श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

[योगोपयोगमार्गणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी

श्री मिश्रीमल जी महाराज

श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

☐ श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत
पचसग्रह (१)
(योगोपयोगमार्गणा अधिकार)

☐ हिन्दी व्याख्याकार
स्व० मरुधरकेसरी प्रवर्तक श्री मिश्रीमल जी महाराज

☐ सयोजक-सप्रेरक
मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

☐ सम्पादक
देवकुमार जैन

☐ प्राप्तिस्थान
श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

☐ प्रथमावृत्ति
वि० स० २०४१, पौष, जनवरी १९८५

लागत से अल्पमूल्य १०/- दस रुपया सिर्फ

☐ मुद्रण
श्रीचन्द सुराना 'सरस' के निर्देशन मे
राष्ट्रीय आर्ट प्रिंटर्स, आगरा

प्रकाशकीय

जनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सर्वागीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) मे बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओ को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रो से आज उनकी माग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पचसग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमे भी विस्तार पूर्वक कर्म-सिद्धान्त के समस्त अगो का विवेचन है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्‌भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज मे ज्ञान के प्रचार-प्रसार मे अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था मे भी पचसग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एव प्रकाशन का अद्‌भुत साहसिक निर्णय उन्होने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एव कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन मे इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्य-कार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौपी और वि० स० २०३६ के आश्विन मास मे इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

आमुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्धदशा मे ससार मे परिभ्रमण कर रहा है। स्वय परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुःख के चक्र मे पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह मे वह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप मे ससार मे यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को ससार मे भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—कम्मं च जाई मरणस्स मूल। भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रो मे प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनो ने इस विश्ववैचित्र्य एव सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एव उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नही है, वह स्वय मे पुद्गल है, जड है। किन्तु राग-द्वेष-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बन्धन मे बाध... है। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते है। यह कर्म की विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिव...

प्राक्कथन

आस्तिक माने जाने वाले सभी मानवो, चिन्तको और दर्शनो ने इहलोक-परलोक और उसके कारण रूप मे कर्म एव कर्मफल का विचार किया है। प्रत्येक व्यक्ति यह देखना और समझना चाहता है कि वह जो कुछ भी करता है, उसका क्या फल है ? इसी अनुभव के आधार पर वह यह निश्चित करता है कि किस फल के लिये कौन-सा कार्य करणीय है। यही कारण है कि प्रागैतिहासिक काल से लेकर अर्वाचीन समय तक का समस्त सामाजिक और धार्मिक चिन्तन किसी-न-किसी रूप मे कर्म और कर्मफल को अपना विचार-विषय बनाता आ रहा है।

कर्म और कर्मफल के चिन्तन के सम्बन्ध मे हम दो दृष्टि देखते हैं। कुछ चिन्तक यह मानते हैं कि मृत्यु के अनन्तर जन्मान्तर है, दृश्यमान इहलोक के अलावा अन्य श्रेष्ठ, कनिष्ठ लोक है, पुनर्जन्म है और इस पुनर्जन्म एव परलोक के कारण के रूप मे कर्मतत्त्व को स्वीकार करते है। इसके लिये वे युक्ति एव प्रमाण देते हैं कि यदि कर्म न हो तो जन्म-जन्मान्तर एव इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घट नही सकता है। अतएव जब हम पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं, तब उसके कारण रूप मे कर्मतत्त्व को मानना आवश्यक है।

वे मानते हैं कि पचभूतात्मक शरीर से भिन्न किन्तु उसमे विद्यमान एक अन्य तत्त्व जीव/आत्मा है, जो अनादि-अनन्त है। अनादिकालीन ससारयात्रा के बीच किसी विशेष भौतिक शरीर को वह धारण करता और त्यागता रहता है। जन्म-जन्मान्तर की चक्र-प्रवृत्ति का उच्छेद शक्य नही है, किन्तु अच्छा लोक और अधिक सुख पाना है तो उसकी प्राप्ति का साधन धर्म करणीय, आचरणीय है। इस मत के अनुसार अधर्म-पाप हेय और धर्म-पुण्य उपादेय है।

इस चिन्तकवर्ग ने धर्म, अर्थ और काम, इन तीन को पुरुषार्थ रूप मे स्वीकार किया। जिससे यह वर्ग त्रिपुरुषार्थवादी अथवा प्रवर्तकधर्मवादी के

है। उसकी उस द्विविधवृत्ति को दर्शन और ज्ञान रूप उपयोग कहा है। जीव अपने मूल स्वभाव मे अमूर्त है, परन्तु दैहिकावस्था मे रागद्वेषात्मक मन-वचन-काय की प्रवृत्तियो द्वारा सूक्ष्मतम पुद्गल परमाणुओ को ग्रहण करता है और उनके द्वारा नाना प्रकार के आन्तरिक सस्कारो को उत्पन्न करता है। जिन सूक्ष्मतम पुद्गल परमाणुओ को जीव ग्रहण करता है, उन्हे जैनदर्शन मे कर्म कहा है। आत्मप्रदेशो मे उनके आ मिलने की प्रक्रिया का नाम आस्रव है और इस मेल के द्वारा जीव मे स्वरूपविपयक जो विकृतिया आदि उत्पन्न होती है, उनका नाम बध है। कर्म और उसके बध की इसी प्रक्रिया को समझाना जैन कर्मसिद्धान्त का अभिधेय है।

जैन कर्मसिद्धान्त ने क्रमबद्ध रूप से अपने अभिधेय की प्ररूपणा की है। अथ से लेकर इति तक उठने वाले सम्बन्धित प्रश्नो का समाधान किया है। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर सयुक्तिक है, किसी प्रकार की अस्पष्टता नही है। कुछ एक प्रश्न इस प्रकार है—

कर्म क्या है ? कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध कैसे होता है ? इसके कारण क्या हैं ? किस कारण से कर्म मे कैसी शक्ति उत्पन्न होती है ? आत्मा के साथ कर्म कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितने समय तक लगा रहता है ? सबद्ध कर्म कितने समय तक फल देने मे असमर्थ रहते हैं ? कर्म का विपाकसमय बदला भी जा सकता है या नही ? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिये आत्मा के कैसे परिणाम आवश्यक है ? कर्म की शक्ति को तीव्रता और मदता मे रूपान्तरित करने वाले कौन-से आत्मपरिणाम कारण होते हैं ? किस कर्म का विपाक किस अवस्था तक नियत और किस अवस्था मे अनियत है ? इसी प्रकार के अन्यान्य प्रश्नो का सयुक्तिक विस्तृत और विशद विवेचन जैन कर्म-सिद्धान्त एव साहित्य मे किया गया है।

जैन साहित्य मे कर्मसिद्धान्त का जिस क्रम से निरूपण किया गया है, उससे यह मानना पडता है कि जैनदर्शन की विशिष्ट कर्मविद्या भगवान पार्श्वनाथ से भी पूर्व स्थिर हो चुकी थी और वह अग्रायणीयपूर्व तथा कर्मप्रवादपूर्व के नाम से विश्रुत हुई। दुर्भाग्य से पूर्व ग्रन्थ कालक्रम से विनष्ट हो गये, किन्तु

तत्पश्चात् इनकी जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान के क्रम से मार्गणा-गवेषणा की है। इसी सन्दर्भ मे जीवस्थानो आदि के भेदो की विस्तृत व्याख्या की है।

इस दृष्टि से इस प्रकरण के मुख्य तीन विभाग हैं—(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान और (३) गुणस्थान, जिनमे ससारी जीवो की आन्तरिक और बाह्य सभी स्थितियो का विवरण स्पष्ट हो जाता है। जीवस्थान शारीरिक विकास और इन्द्रियो की न्यूनाधिकता के बोधक है। मार्गणास्थान मे जीव की स्वाभाविक-वैभाविक दशाओ का वर्णन है तथा गुणस्थान आत्मा के उत्तरोत्तर विकास की दर्शक भूमिकायें है। जीवस्थान कर्मजन्य होने से हेय ही है और मार्गणास्थानो मे जो अस्वाभाविक है, वे भी हेय है, किन्तु गुणस्थान विकास की श्रेणिया होने से ज्ञेय एव उपादेय है। इनके द्वारा यह ज्ञात होता है कि इस स्थिति मे वर्तमान जीव ने विकास की किस भूमिका पर आरोहण कर लिया है और विकासोन्मुखी आत्मा आगे किस अवस्था को प्राप्त करने मे समर्थ होगी।

जीवस्थानो आदि मे अमुक योग और उपयोग क्यो होते हैं ? इस प्रश्न का सयुक्तिक समाधान किया है। इसके सिवाय यथाप्रसग विषय से सम्बन्धित मतान्तरो का भी उल्लेख किया गया है। जिनमे से कतिपय सैद्धान्तिक और कार्मग्रन्थिक है और कुछ का अन्य आचार्यो से सम्बन्ध है। इसके साथ ही मार्गणास्थान के वासठ भेदो मे चौदह जीवस्थानो तथा गुणस्थानो की सम्भवता का अन्वेपण कर अधिकार को समाप्त किया है।

गाथानुसार उक्त वर्णन का कम इस प्रकार है—गाथा ६ से ८ तक चौदह जीवस्थानो मे योगो और उपयोगो का, गाथा ९ से १५ तक वासठ मार्गणा भेदो मे योगो और उपयोगो का, तत्पश्चात् गाथा १६ से २० तक गुणस्थानो मे योगो और उपयोगो का विचार करके गाथा २१ से ३४ तक वासठ मार्गणास्थानो मे सम्भव जीवस्थानो तथा गुणस्थानो का निरूपण किया गया है। अन्त मे अधिकार समाप्ति का और द्वितीय वधक अधिकार का विवेचन प्रारम्भ करने का सकेत किया है।

श्रमणसंघ के भीष्म-पितामह
श्रमणसूर्य स्व. गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के ५०० वर्षो के इतिहास मे कुछ ही ऐसे गिने-चुने महापुरुष हुए है जिनका विराट् व्यक्तित्व अनन्त असीम नभोमण्डल की भाति व्यापक और सीमातीत रहा हो। जिनके उपकारो से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ श्वेताम्बर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-अजैन, बालक-वृद्ध, नारी-पुरुष, श्रमण-श्रमणी सभी उपकृत हुए हैं और सब उस महान् विराट व्यक्तित्व की शीतल छाया से लाभान्वित भी हुए है। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है—श्रमण-सूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज।

पता नही वे पूर्वजन्म की क्या अखूट पुण्याई लेकर आये थे कि बाल-सूर्य की भाति निरन्तर तेज-प्रताप-प्रभाव-यश और सफलता की तेजस्विता, प्रभास्वरता मे बढते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्याह्न बाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्याह्नोत्तर काल मे अधिक अधिक दीप्त होता रहा, ज्यो-ज्यो यौवन की नदी बुढापे के सागर की ओर बढती गई त्यो-त्यो उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई, सीमाए व्यापक बनती गइ, प्रभाव प्रवाह सौ सौ धाराए बनकर गाव-नगर-बन-उपवन सभी को तृप्त-परितृप्त करता गया। यह सूर्य डूबने की अतिम घडी, अतिम क्षण तक तेज से दीप्त रहा, प्रभाव मे प्रचण्ड रहा और उसकी किरणो का विस्तार अनन्त असीम गगन के दिक्कोणो को छूता रहा।

जैसे लड्डू का प्रत्येक दाना मीठा होता है, अगूर का प्रत्येक अश मधुर होता है, इसी प्रकार गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज का

पडी । इस बीच गुरुदेवश्री मानमलजी म का वि सं १९७५, माघ वदी ७ को जोधपुर मे स्वर्गवास हो गया । वि. स १९७५ अक्षय तृतोया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के कर-कमलो से आपने दीक्षा-रत्न प्राप्त किया ।

आपकी बुद्धि बडी विचक्षण थी । प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्भुत थी । छोटी उम्र मे ही आगम, थोकडे, सस्कृत, प्राकृत, गणित, ज्योतिष, काव्य, छन्द, अलकार, व्याकरण आदि विविध विषयो का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया । प्रवचनशैली की ओजस्विता और प्रभावकता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते और यो सहज ही आपका वर्चस्व, तेजस्व बढता गया ।

वि स १९८५ पौष वदि प्रतिपदा को गुरुदेव श्री बुधमलजी म का स्वर्गवास हो गया । अब तो पूज्य रघुनाथजी महाराज की सप्रदाय का समस्त दायित्व आपश्री के कधो पर आ गिरा । किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे । गुरु से प्राप्त सप्रदाय-परम्परा को सदा विकासोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही बनाते रहे । इस दृष्टि से स्थानागसूत्र-वर्णित चार शिष्यो (पुत्रो) मे आपको अभिजात (श्रेष्ठतम) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त ऋद्धि-वैभव को दिन दूना रात चौगुना बढाता रहता है ।

वि स १९९३, लोकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री को मरुधरकेसरी पद से विभूषित किया गया । वास्तव मे ही आपकी निर्भीकता और क्रान्तिकारी सिह गर्जनाएं इस पद की शोभा के अनुरूप ही थी ।

स्थानकवासी जैन समाज की एकता और सगठन के लिए आपश्री के भगीरथ प्रयास श्रमणसघ के इतिहास मे सदा अमर रहेगे । समय-समय पर टूटती कडिया जोडना, सघ पर आये सकटो का दूरदर्शिता के साथ निवारण करना, सत-सतियो की आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना, भीतर मे उठती मतभेद की कटुता को दूर करना—यह आपश्री की ही क्षमता का नमूना है कि वृहत् श्रमणसघ का निर्माण हुआ, बिखरे घटक एक हो गये ।

प्रवचन, जैन उपन्यास आदि की आपश्री की पुस्तके भी अत्यधिक लोकप्रिय हुई है। लगभग ६-७ हजार पृष्ठ से अधिक परिमाण मे आप श्री का साहित्य आका जाता है।

शिक्षा क्षेत्र मे आपश्री की दूरदर्शिता जैन समाज के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई है। जिस प्रकार महामना मालवीय जी ने भारतीय शिक्षा क्षेत्र मे एक नई क्रांति—नया दिशादर्शन देकर कुछ अमर स्थापनाएँ की है, स्थानकवासी जैन समाज के शिक्षा क्षेत्र मे आपको भी स्थानकवासी जगत का 'मालवीय' कह सकते है। लोकाशाह गुरुकुल (सादडी), राणावास की शिक्षा सस्थाएँ, जयतारण आदि के छात्रावास तथा अनेक स्थानो पर स्थापित पुस्तकालय, वाचनालय, प्रकाशन सस्थाएँ शिक्षा और साहित्य-सेवा के क्षेत्र मे आपश्री की अमर कीर्ति गाथा गा रही है।

लोक-सेवा के क्षेत्र मे भी मरुधरकेसरी जी महाराज भामाशाह और खेमा देदराणी की शुभ परम्पराओ को जीवित रखे हुए थे। फर्क यही है कि वे स्वय धनपति थे, अपने धन को दान देकर उन्होने राष्ट्र एव समाज-सेवा की, आप एक अकिंचन श्रमण थे, अत आपश्री ने धनपतियो को प्रेरणा, कर्तव्य-बोध और मार्गदर्शन देकर मरुधरा के गाव-गाव, नगर-नगर मे सेवाभावी सस्थाओ का, सेवात्मक प्रवृत्तियो का व्यापक जाल बिछा दिया।

आपश्री की उदारता की गाथा भी सैकडो व्यक्तियो के मुख से सुनी जा सकती है। किन्ही भी सत, सतियो को किसी वस्तु की, उपकरण आदि की आवश्यकता होती तो आपश्री निस्सकोच, बिना किसी भेदभाव के उनको सहयोग प्रदान करते और अनुकूल साधन-सामग्री की व्यवस्था कराते। साथ ही जहाँ भी पधारते वहाँ कोई रुग्ण, असहाय, अपाहिज, जरूरतमन्द गृहस्थ भी (भले ही वह किसी वर्ण, समाज का हो) आपश्री के चरणो मे पहुच जाता तो आपश्री उसकी दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियो द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गाव-गाव मे

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मग्रन्थो का सम्पादन करने के सन्दर्भ मे जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थो के अवलोकन करने का प्रसग आया। इन ग्रन्थो मे श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षि महत्तरकृत 'पचसग्रह' प्रमुख है।

कर्मग्रन्थो के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पचसग्रह को भी सर्वजन सुलभ, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यो मे लगे रहने से तत्काल तो कार्य प्रारम्भ नही किया जा सका। परन्तु विचार तो था ही और पाली (मारवाड) मे विराजित पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी, श्रमणसूर्य श्री मिश्रीमल जी म सा की सेवा मे उपस्थित हुआ एव निवेदन किया—

भन्ते ! कर्मग्रन्थो का प्रकाशन तो हो चुका है, अब इसी क्रम मे पचसग्रह को भी प्रकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया विचार प्रशस्त है और चाहता भी हूँ कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हो, मानसिक उत्साह होते हुए भी शारीरिक स्थिति साथ नही दे पाती है। तब मैने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद से सम्पन्न होगा ही, आपश्री की प्रेरणा एव मार्गदर्शन मे कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मागलिक के साथ ग्रन्थ की गुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक श्रम को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनै कथा' की गति से करते-करते आधे से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगडी सज्जनपुर चातुर्मास तक तैयार करके सेवा मे उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्री ने प्रमोदभाव व्यक्त कर फरमाया—चरैवैति-चरैवैति।

इसी बीच शिवशर्मसूरि विरचित 'कम्मपयडी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलो का समाधान सुगमता से होता गया

श्रीमान् पुखराजजी ज्ञानचन्द जीमुणोत,
ताम्बरम्(मद्रास)

ससार मे उसी मनुष्य का जन्म सफल माना जाता है जो जीवन मे त्याग, सेवा, सयम, दान परोपकार आदि सुकृत करके जीवन को सार्थक बनाता है। श्रीमान पुखराजजी मुणोत भी इसी प्रकार के उदार हृदय, धर्मप्रेमी गुरु भक्त और दानवीर है जिन्होने जीवन को त्याग एव दान दोनो धाराओ मे पवित्र बनाया है।

आपका जन्म वि० स० १९७८ कार्तिक वदी ५, रणसीगाव (पीपाड जोधपुर) निवासी फूलचन्दजी मुणोत के घर, धमशीला श्रीमती कूकी बाई के उदर से हुआ। आपके २ अन्य बन्धु व तीन बहनें भी है।

भाई—स्व० श्री मिश्रीमल जी मुणोत
श्री सोहनराज जी मुणोत

बहनें—श्रीमती दाकूबाई, धर्मपत्नी सायबचन्द जी गाधी, नागोर
श्रीमती तीजीबाई, धर्मपत्नी रावतमल जी गुन्देचा, हरियाडाणा
श्रीमती सुगनीबाई, धर्मपत्नी गगाराम जी लूणिया, शेरगढ

आप बारह वर्ष की आयु मे ही मद्रास व्यवसाय हेतु पधार गये और सेठ श्री चन्दनमल जी सखलेचा (तिण्डीवणम्) के पास काम काज सीखा।

आपका पाणिग्रहण श्रीमान मूलचन्द जी लूणिया (शेरगढ निवासी) की सुपुत्री धर्मशीला, सौभाग्यशीला श्रीमती रुकमाबाई के साथ सम्पन्न हुआ। आप दोनो की ही धर्म के प्रति विशेष रुचि, दान, अतिथि-सत्कार व गुरु भक्ति मे विशेष लगन रही है।

ई० सन् १९५० मे आपने ताम्बरम् मे स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया। प्रामाणिकता के साथ परिश्रम करना और सबके साथ सद्व्यवहार रखना आपकी विशेषता है। करीब २० वर्षों से आप नियमित-

विषयानुक्रमणिका

सामायिक, तथा चउविहार करते है। चतुदर्शी का उपवास तथा मासिक आयम्बिल भी करते है। आपने अनेक अठाइया, पचोले, तेले आदि तपस्या भी की है। ताम्बरम् मे जैन स्थानक एव पाठशाला के निर्माण मे आपने तन मन-धन से सहयोग प्रदान किया। आप एम० एस० जैन एसोसियेशन ताम्बरम् के कोषाध्यक्ष है।

आपके सुपुत्र श्रीमान ज्ञानचन्द जी एक उत्साही कर्तव्यनिष्ठ युवक है। माता-पिता के भक्त तथा गुरुजनो के प्रति असीम आस्था रखते हुए, सामाजिक तथा राष्ट्रीय सेवा कार्यों मे सदा सहयोग प्रदान करते है। श्रीमान ज्ञानचन्दजी की धर्मपत्नी सौ० खमाबाई (सुपुत्री श्रीमान पुखराज जी कटारिया राणावास) भी आपके सभी कार्यों मे भरपूर सहयोग करती है।

इस प्रकार यह भाग्यशाली मुणोत परिवार स्व० गुरुदेव श्री मरुधर केशरी जी महाराज के प्रति सदा से असीम आस्थाशील रहा है। विगत मेडता (वि० स० २०३६) चातुर्मास मे श्री सूर्य मुनिजी की दीक्षा प्रसग(आसोज सुदी १०)पर श्रीमान पुखराज जी ने गुरुदेव की उम्र के वर्षो जितनी विपुल धन राशि पच सग्रह प्रकाशन मे प्रदान करने की घोषणा की। इतनी उदारता के साथ सत् साहित्य के प्रचार-प्रसार मे सास्कृतिक रुचि का यह उदाहरण वास्तव मे ही अनुकरणीय व प्रशसनीय है। श्रीमान ज्ञानचन्द जी मुणोत की उदारता, सज्जनता और दानशीलता वस्तुत आज के युवक समाज के समक्ष एक प्रेरणा प्रकाश है।

हम आपके उदार सहयोग के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हुए आपके समस्त परिवार की सुख-समृद्धि की शुभ कामना करते है। आप इसी प्रकार जिनशासन की प्रभावना करते रहे—यही मगल कामना है।

मन्त्री—
पूज्य श्री रघुनाथ जैन शोध सस्थान
जोधपुर

विषयानुक्रमणिका

तालिकाएँ :

□□

उत्थानिका

शिष्ट जन इष्ट देव के नमस्कारपूर्वक ही अभीप्सित कार्य मे प्रवृत्ति करते है, अथवा मगलवाचक शब्दो के उच्चारणपूर्वक कार्य प्रारम्भ करते हैं। अत आचार्यप्रवर भी शिष्टजनसम्मत परम्परा का अनुसरण करते हुए विघ्नोपशान्ति के लिए सर्वप्रथम मगलाचरण करते है—

नमिऊण जिणं वीर सम्मं दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवग।
वोच्छामि पचसंगहमेय महत्थं जहत्थ च ॥१॥

शब्दार्थ—नमिऊण—नमस्कार करके, जिण—जिन, वीर—वीर को, सम्म—सम्यक् प्रकार से—विधिपूर्वक, दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवग—दुष्ट अष्ट कर्मों का नाश करने वाले, वोच्छामि—कहूँगा, पचसगह—पचसग्रह को, एय—इस, च—और, महत्थ—महान अर्थ वाले, जहत्थ—यथार्थ।

गाथार्थ—दुष्ट अष्ट कर्मों का नाश करने वाले जिन भगवान् महावीर को सम्यक् प्रकार से विधिपूर्वक नमस्कार करके महान अर्थ वाले इस 'पचसग्रह' नामक ग्रन्थ को यथार्थ रूप मे कहूँगा।

विशेषार्थ—आचार्यप्रवर ने गाथा मे इष्ट देव के रूप मे वीर जिनेश्वर को नमस्कार करते हुए ग्रन्थ का नामोल्लेख और उसका माहात्म्य प्रदर्शित किया है।

मगलाचरण के दो प्रकार है—निबद्ध और अनिबद्ध, अथवा व्यक्त और अव्यक्त। निबद्ध और व्यक्त मगल वचनरूप और अनिबद्ध—अव्यक्त मगल स्मरणरूप होता है। ये दोनो मगल भी आदि, मध्य और अन्त के भेद से तीन प्रकार के है। आदिमगल प्रारम्भ किये जा रहे कार्य मे सफलता प्राप्त करने के लिए, मध्यमगल प्राप्त सफलता के

उत्थानिका

शिष्ट जन इष्ट देव के नमस्कारपूर्वक ही अभीप्सित कार्य मे प्रवृत्ति करते है, अथवा मगलवाचक शब्दो के उच्चारणपूर्वक कार्य प्रारम्भ करते है। अत आचार्यप्रवर भी शिष्टजनसम्मत परम्परा का अनुसरण करते हुए विघ्नोपशाति के लिए सर्वप्रथम मगलाचरण करते है—

नमिऊण जिणं वीर सम्मं दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवग।
वोच्छामि पचसगहमेय महत्थं जहत्थ च ॥१॥

शब्दार्थ—नमिऊण—नमस्कार करके, जिण—जिन, वीर—वीर को, सम्म—सम्यक् प्रकार से—विधिपूर्वक, दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवग—दुष्ट अष्ट कर्मों का नाश करने वाले, वोच्छामि—कहूँगा, पचसगह—पचसग्रह को, एय—इस, च—और, महत्थ—महान अर्थ वाले, जहत्थ—यथार्थ।

गाथार्थ—दुष्ट अष्ट कर्मों का नाश करने वाले जिन भगवान् महावीर को सम्यक् प्रकार से विधिपूर्वक नमस्कार करके महान अर्थ वाले इस 'पचसग्रह' नामक ग्रन्थ को यथार्थ रूप मे कहूँगा।

विशेषार्थ—आचार्यप्रवर ने गाथा मे इष्ट देव के रूप मे वीर जिनेश्वर को नमस्कार करते हुए ग्रन्थ का नामोल्लेख और उसका माहात्म्य प्रदर्शित किया है।

मगलाचरण के दो प्रकार है—निबद्ध और अनिबद्ध, अथवा व्यक्त और अव्यक्त। निबद्ध और व्यक्त मगल वचनरूप और अनिबद्ध—अव्यक्त मगल स्मरणरूप होता है। ये दोनो मगल भी आदि, मध्य और अन्त के भेद से तीन प्रकार के है। आदिमगल प्रारम्भ किये जा रहे कार्य मे सफलता प्राप्त करने के लिए, मध्यमगल प्राप्त सफलता के

पुरुषार्थ से राग-द्वेष-मोह आदि कर्मबन्ध के कारणो पर विजय प्राप्त करके सदा-सर्वदा के लिए मुक्ति प्राप्त कर ली है। इसी कारण उनको यहाँ नमस्कार किया है।

इसके साथ ही ग्रन्थकार ने कर्मविमुक्ति के उपाय और आदर्श को यथार्थ रूप मे अवतरित करने वाले वीर जिनेश्वरदेव को नमस्कार करने के द्वारा प्रत्येक ससारी जीव को बोध कराया है कि जब तक राग-द्वेष-मोह आदि भावकर्मों और ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्यकर्मों के साथ सम्बन्ध जुडा हुआ है, तब तक जन्म-मरण आदि रूप दुःखो को भोगना ही पडेगा।

मगलाचरणात्मक पदो की व्याख्या इस प्रकार है—

'जिण' (जिन)—रागादिशत्रुजेतृत्वाज्जिनस्त'—यह जिन शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या है। अर्थात् स्व-स्वरूपोपलब्धि मे बाधक राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध आदि अन्तरग शत्रुओ और ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्यकर्मरूप शत्रुओ को जीतने वाले जिन कहलाते है।

वीर—'वीर्' धातु पराक्रम के अर्थ मे प्रयुक्त होती है। अत 'वीरयतिस्म वीर' अर्थात् कषाय आदि अन्तरग और उपसर्ग, परीषह आदि बाह्य शत्रुसमूह को जीतने मे जिन्होने पराक्रम किया है, वे वीर है।

अथवा 'ईर्' गतिप्रेरणयो, अत 'वि विशेषेण ईरयति, गमयति, स्फेटयति कर्म, प्रापयति वा शिव, प्रेरयति शिवाभिमुखमितिवा वीर.' —ईर् धातु गति और प्रेरणार्थक है, इसलिए विशेष प्रकार से जो कर्म को दूर करते है, अन्य भव्य आत्माओ को मोक्ष प्राप्त कराते है अथवा जो मोक्ष के सन्मुख होने की प्रेरणा देते है, वे वीर कहलाते है।

अथवा 'ईरि गतौ'—'वि-विशेषेण अपुनर्भावेन ईर्ते स्म याति स्म शिवमिति वीर'—अर्थात् 'वि' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'ईरि' धातु से वीर शब्द निष्पन्न हुआ है। अत. पुन. ससार मे न आना पडे, इस प्रकार

वाले नही हो सकते है। इसीलिए 'जिन' और 'दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापक यह दोनो सार्थक विशेषण हैं और दोनो पृथक्-पृथक् दो विशेषताओ का बोध कराते हैं।

यह विशेषतायें साक्षात् रूप से वीर जिनेश्वर मे प्राप्त हैं। अन्यत्र सम्भव नही होने से 'सम्म'—सम्यक् प्रकार से—विधिपूर्वक उनको 'नमिऊण'—नमस्कार करके आचार्य अपने ग्रन्थरचना रूप कार्य मे प्रवृत्त होते है।

इस प्रकार गाथागत पूर्वार्ध के मुख्य पदो की सार्थकता बतलाने के बाद उत्तरार्ध की व्याख्या करते हैं कि—

'वोच्छामि पचसगहं'—पचसग्रह नामक ग्रन्थ का विवेचन करूंगा, कहूँगा। यद्यपि यह ग्रन्थ सग्रह रूप है तथापि 'महत्थ'—'महार्थम्' गम्भीर अर्थ वाला है। सग्रहात्मक होने पर भी इसके अर्थगाभीर्य मे किंचिन्मात्र भी न्यूनता नही है। इसके साथ ही 'जहत्थ'—'यथार्थम्' जिनप्रवचन से अविरोधी अर्थ वाला है।

ग्रन्थरचना का प्रयोजन

स्व-इष्ट की सिद्धि को प्रयोजन कहते है। प्रयोजन के दो प्रकार हैं—१ अनन्तर (साक्षात्)-प्रयोजन और २ परम्पर-प्रयोजन। श्रोता की अपेक्षा ग्रन्थ के विषय का ज्ञान होना और कर्ता की अपेक्षा परोपकार अनन्तरप्रयोजन हैं तथा कर्म का स्वरूप समझकर कर्मक्षय के लिए प्रवृत्त होकर मोक्ष प्राप्त करना कर्ता और श्रोता का परम्पर-प्रयोजन है।

इस प्रकार सामान्य से ग्रन्थ के महत्व को प्रदर्शित करने के पश्चात् अब ग्रन्थकार ग्रन्थ का प्रारम्भ करते है।

ग्रन्थ के नामकरण की दृष्टि

ग्रन्थ को प्रारम्भ करने के प्रसग मे सर्वप्रथम ग्रन्थ के नामकरण के कारण को स्पष्ट करते हैं—

सयगाइ पच गथा जहारिहं जेण एत्थ सखित्ता ।
दाराणि पच अहवा, तेण जहत्थाभिहाणमिणं ॥२॥

शब्दार्थ—सयगाइ—शतकादि, पच—पाच, गथा—ग्रन्थ, जहारिह—यथायोग्य रीति से, जेण—जिस कारण, एत्थ—यहाँ, सखित्ता—सक्षिप्त करके, दाराणि—द्वार, पच—पाच, अहवा—अथवा, तेण—उससे, जहत्थाभिहाण—यथार्थ नामवाला, इण—यह ।

गाथार्थ—यथायोग्य रीति से जिस कारण शतक आदि पाच ग्रन्थो का अथवा पाच द्वारो का यहाँ सक्षिप्त रूप मे सग्रह किया गया है, उससे इस ग्रन्थ का 'पचसग्रह' यह सार्थक नाम है ।

विशेषार्थ—गाथा मे ग्रन्थ के सार्थक नामकरण के कारण को स्पष्ट किया है कि इसमे शतक आदि पाच ग्रन्थो का साराश संकलित किया गया है । उन ग्रन्थो के नाम है—

१ शतक, २ सप्ततिका, ३ कषायप्राभृत, ४ सत्कर्म और ५. कर्मप्रकृति ।[1]

इन पाच ग्रन्थो का संक्षेप मे सग्रह किये जाने से 'पचसग्रह' यह सार्थक नाम है ।

अथवा नामकरण का दूसरा कारण यह है कि इसके वर्णन के पाच अर्थाधिकार है । इन अर्थाधिकारो मे अपने-अपने अधिकृत विषय का यथायोग्य रीति से विवेचन किया जायेगा । इस अपेक्षा से भी इस प्रकरण का 'पचसग्रह' यह नाम सार्थक है ।

---

१ इन ग्रथो के नामो का उल्लेख आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका मे किया है । इन नामो वाले ग्रथ तो आज भी उपलब्ध हैं, लेकिन ये वही ग्रथ है, जिनका यहाँ उल्लेख है, निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है । ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रथकार के समय मे कोई प्राचीनतम ग्रंथ रहे होंगे जो उपलब्ध ग्रथो से भी अधिक गम्भीर अर्थ वाले रहे होंगे, और उन्ही का साराश पंचसग्रह मे सकलित है ।

वाले नही हो सकते हैं। इसीलिए 'जिन' और 'दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापक यह दोनो सार्थक विशेषण हैं और दोनो पृथक्-पृथक् दो विशेषताओ का बोध कराते हैं।

यह विशेषताये साक्षात् रूप मे वीर जिनेश्वर मे प्राप्त हैं। अन्यत्र सम्भव नही होने से 'सम्म'—सम्यक् प्रकार से—विधिपूर्वक उनको 'नमिऊण'—नमस्कार करके आचार्य अपने ग्रन्थरचना रूप कार्य मे प्रवृत्त होते है।

इस प्रकार गाथागत पूर्वार्ध के मुख्य पदो की सार्थकता बतलाने के बाद उत्तरार्ध की व्याख्या करते हैं कि—

'वोच्छामि पंचसंगह'—पचसग्रह नामक ग्रन्थ का विवेचन करूंगा, कहूँगा। यद्यपि यह ग्रन्थ सग्रह रूप है तथापि 'महत्थ'—'महार्थम्' गम्भीर अर्थ वाला है। सग्रहात्मक होने पर भी इसके अर्थगाभीर्य मे किंचिन्मात्र भी न्यूनता नही है। इसके साथ ही 'जहत्थ'—'यथार्थम्' जिनप्रवचन मे अविरोधी अर्थ वाला है।

ग्रन्थरचना का प्रयोजन

स्व-इष्ट की सिद्धि को प्रयोजन कहते हैं। प्रयोजन के दो प्रकार हैं—१ अनन्तर (साक्षात्)-प्रयोजन और २ परम्पर-प्रयोजन। श्रोता की अपेक्षा ग्रन्थ के विषय का ज्ञान होना और कर्ता की अपेक्षा परोपकार अनन्तरप्रयोजन है तथा कर्म का स्वरूप समझकर कर्मक्षय के लिए प्रवृत्त होकर मोक्ष प्राप्त करना कर्ता और श्रोता का परम्पर-प्रयोजन है।

इस प्रकार सामान्य से ग्रन्थ के महत्व को प्रदर्शित करने के पश्चात् अब ग्रन्थकार ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हैं।

ग्रन्थ के नामकरण की दृष्टि

ग्रन्थ को प्रारम्भ करने के प्रसग मे सर्वप्रथम ग्रन्थ के नामकरण के कारण को स्पष्ट करते हैं—

सयगाइ पच गथा जहारिहं जेण एत्थ सखित्ता ।
दाराणि पच अहवा, तेण जहत्थाभिहाणमिण ॥२॥

शब्दार्थ—सयगाइ—शतकादि, पच—पाच, गथा—ग्रन्थ, जहारिह—यथायोग्य रीति मे, जेण—जिस कारण, एत्थ—यहाँ, सखित्ता—सक्षिप्त करके, दाराणि—द्वार, पच—पाच, अहवा—अथवा, तेण—उससे, जहत्थाभिहाण—यथार्थ नामवाला, इण—यह ।

गाथार्थ—यथायोग्य रीति से जिस कारण शतक आदि पाच ग्रन्थो का अथवा पाच द्वारो का यहाँ सक्षिप्त रूप मे सग्रह किया गया है, उससे इस ग्रन्थ का 'पचसग्रह' यह सार्थक नाम है ।

विशेषार्थ—गाथा मे ग्रन्थ के सार्थक नामकरण के कारण को स्पष्ट किया है कि इसमे शतक आदि पाच ग्रन्थो का साराश सकलित किया गया है । उन ग्रन्थो के नाम है—

१ शतक, २ सप्ततिका, ३ कषायप्राभृत, ४ सत्कर्म और ५ कर्मप्रकृति ।[1]

इन पाच ग्रन्थो का सक्षेप मे सग्रह किये जाने से 'पचसग्रह' यह सार्थक नाम है ।

अथवा नामकरण का दूसरा कारण यह है कि इसके वर्णन के पाच अर्थाधिकार है । इन अर्थाधिकारो मे अपने-अपने अधिकृत विषय का यथायोग्य रीति से विवेचन किया जायेगा । इस अपेक्षा से भी इस प्रकरण का 'पचसग्रह' यह नाम सार्थक है ।

---

१ इन ग्रथो के नामो का उल्लेख आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका मे किया है । इन नामो वाले ग्रथ तो आज भी उपलब्ध है, लेकिन ये वही ग्रथ है, जिनका यहाँ उल्लेख है, निश्चित रूप मे नही कहा जा सकता है । ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रथकार के समय मे कोई प्राचीनतम ग्रथ रहे होंगे जो उपलब्ध ग्रथो से भी अधिक गम्भीर अर्थ वाले रहे होंगे और उन्ही का साराश पचसग्रह मे सकलित है ।

सारांश यह है कि संकलन अथवा वर्ण्यविषयों की अपेक्षा नाम-करण के कारण का विचार किया जाये तो पूर्व गाथा में जो 'वोच्छामि पंचसंगहं' पद दिया था, तदनुरूप ही ग्रन्थ का 'पंचसंग्रह' नाम यथार्थ सिद्ध होता है।

पांच द्वारों के नाम

जिज्ञासु यहाँ प्रश्न पूछता है कि आपने पांच द्वारों का संकेत तो कर दिया, लेकिन वे द्वार कौन-से हैं? उनके नाम क्या हैं? यह नहीं बताया, तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार पांच द्वारों का निर्देश करते हैं—

एत्थ य जोगुवयोगाणमग्गणा बंधगा य वत्तव्वा।
तह बंधियव्व य बंधहेयवो बंधविहिणो य ॥२॥

शब्दार्थ—एत्थ—यहाँ, इस प्रकरण में, य—और, जोगुवयोगाणमग्गणा—योग-उपयोग मार्गणा, बंधगा—बन्धक, य—और, वत्तव्वा—कथन किया जायेगा, तह—तथा, बंधियव्व—बन्धव्य, बांधनेयोग्य, य—और, बंध-हेयवो—बंधहेतु, बंधविहिणो—बंधविधि, य—और।

गाथार्थ—इस प्रकरण में योगोपयोगमार्गणा, बन्धक, बन्धव्य, बन्धहेतु और बन्धविधि इन पांच द्वारों का कथन किया जायेगा।

विशेषार्थ—गाथा में ग्रन्थ के पांच अर्थाधिकारों के नाम बताये हैं कि वे कौन हैं और प्रकरण में किस-किस विषय का विवेचन किया जायेगा। उन अर्थाधिकारों के नाम इस प्रकार हैं—

१ योगोपयोगमार्गणा—योग और उपयोग के सम्बन्ध में विचार।
२ बन्धक—बांधने वाले कौन जीव हैं? इसका विचार।
३ बन्धव्य—बांधने लायक क्या है? इसका विचार।
४ बन्धहेतु—बांधने योग्य कर्मों के बन्धहेतुओं का विचार।
५ बन्धविधि—प्रकृतिबन्ध आदि बन्ध के प्रकारों का विचार।

पांच ग्रन्थों के संग्रह की तरह पांच अर्थाधिकार होने से इस प्रकरण का 'पंचसंग्रह' यह सार्थक नामकरण किया गया है।

उक्त पाच अर्थाधिकारो के क्रमविन्यास पर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है कि—

प्रश्न—यह कैसा अर्थाधिकारो का क्रमविधान है? यह विधान तो युक्तिसगत नही है। क्योकि सभी क्रियायें कर्ता के अधीन होने से सर्वप्रथम बन्धक, तत्पश्चात् योगोपयोग, अनन्तर बन्धव्य और उसके बाद क्रमश बन्धहेतु और बन्धविधि का विधान करना चाहिये था।

उत्तर—अभिप्राय को न समझने के कारण उक्त प्रश्न असगत है। क्योकि योग और उपयोग जीव के असाधारण गुण है और अविनाभावी होने से उनके द्वारा अतीन्द्रिय आत्मा का सरलता से बोध हो जाता है तथा दूसरी बात यह है कि छद्मस्थ जीव प्राय गुण से गुणी को जानते है, न कि साक्षात्। अत उक्त दोनो अर्थो का बोध कराने के लिए सबसे पहले योग-उपयोग का उपन्यास किया है और उसके पश्चात् बन्धक आदि का विन्यास किया है।

पच अर्थाधिकारो के लक्षण

पूर्व मे पाच अधिकारो के वर्ण्य विषयो का सक्षेप मे सकेत किया है। अब उन्ही को कुछ विशष रूप मे स्पष्ट करते है।

प्रथम अर्थाधिकार का नाम 'योगोपयोगमार्गणा' है। इसमे योग और उपयोग की मार्गणा—विचारणा—विवेचना की जायेगी। अत. सर्वप्रथम योग और उपयोग का स्वरूप बतलाते है।

योग—अर्थात् जीव की वीर्यशक्ति अथवा जीव का वीर्य परिस्पन्द (परिणाम), जिसके द्वारा दौडना, कूदना आदि अनेक क्रियाओ मे जीव सबद्ध हो- प्रवृत्ति करे उसे योग कहते है।[1]

अथवा मन, वचन और काय से युक्त जीव का जो वीर्य परि-

---

१ योजन योगो जीवस्य वीर्यपरिस्पद इत्यर्थं यद् वा युज्यते सबद्ध्यते धावनवल्गनादिक्रियासु जीवोऽनेनेति योग ।

—पचसग्रह, मलयगिरि टीका पृ० ३

णाम अथवा प्रदेश-परिस्पन्द रूप प्रणियोग होता है, वह योग कहलाता है।[1]

अथवा जीवप्रदेशो का जो सकोच-विकोच व परिभ्रमण रूप परिस्पन्दन होता है, वह योग है।[2]

अथवा मन, वचन और काय के व्यापार-प्रवृत्ति अर्थात् हलन-चलन को योग कहते है।[3]

अथवा पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने मे कारणभूत शक्ति है, उस को योग कहते है।[4]

योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, चित्त, यह सब योग के पर्यायवाची अपर नाम है।[5]

यह योगशक्ति समस्त जीवो मे पाई जाती है और वह वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय एव सर्वक्षय से उत्पन्न होती है। देशक्षय से छद्मस्थ-ससारी जीवो मे और सर्वक्षय से सयोगि-अयोगि केवली, मुक्त जीवो मे

---

१ मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो।
जीवस्सप्पणिओगो जोगो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो॥

—दि पचसग्रह १/८८

२ जीव पदेसाण परिप्फदो सकोचविकोचब्भमणसरूवओ।

—धवला १०/४, २, ४, १७५/४३७

३ कायवाङ्मन कर्म योग। —तत्त्वार्थसूत्र ६/१

४ पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागम कारणजोगो॥

—गोम्मटसार, जीवकाण्ड गाथा २१६

जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थ चिय जोगस्स हवति पज्जया॥

—कर्मप्रकृति, पृ० १८

उत्पन्न होती है। संसारी जीव सलेश्य है और मुक्त जीव अलेश्य। प्रस्तुत मे सलेश्य-ससारी जीव की योगशक्ति अभिप्रेत है।

ससारी जीवो के पास परिणमन, अवलम्बन और ग्रहण के साधन रूप मे मन, वचन और काय रूप सहकारी कारणो के भेद से योग के मुख्य तीन भेद है[1] और उनके अवान्तर पन्द्रह भेद होते है। जिनके नाम यथाप्रसग आगे बतलाये जायेंगे।

उपयोग—जीव की चेतनाशक्ति का व्यापार। जिससे आत्मा वस्तुओ को जानने के प्रति प्रवृत्ति करती है, ऐसी जीव की स्वरूपभूत चेतनाशक्ति का व्यापार उपयोग कहलाता है।[2]

अथवा जीव का जो भाव वस्तु को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है, उसे उपयोग कहते है।[3]

अथवा आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते है।[4]

चेतना की परिणतिविशेष का नाम उपयोग है। उपयोग जीव का असाधारण लक्षण है।[5]

उपयोग के बारह भेद है। इनके नाम और लक्षण आगे यथाप्रसग बतलाये जायेंगे।

योगोपयोगमार्गणा मे इन योग और उपयोग की मार्गणा-विचारणा

---

१ परिणामालबणगहणसाहण तेण लद्धनामतिग।

—कर्मप्रकृति, गा० ४

२ उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेद प्रति व्यापार्यंते जीवोऽनेनेत्युपयोग, बोधरूपो जीवस्य स्वतत्त्वभूतो व्यापार। —पचसग्रह टीका, पृ० ४

३ वत्थुणिमित्तो भावो जादो जीवस्स होदि उवओगो।

—गो जीवकाण्ड, गाथा ६७२

४ चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोग। —सर्वार्थसिद्धि २/८

५ उपयोगो लक्षणम्। —तत्त्वार्थसूत्र २/८

जीवस्थानो, मार्गणास्थानो और गुणस्थानो मे की जायेगी तथा साथ ही मार्गणास्थानो मे जीवस्थानो और गुणस्थानो का भी विचार किया जायेगा।

बन्धक—जो स्व आत्मप्रदेशो के साथ आठ प्रकार के कर्मों को सम्बद्ध करते है—जोडते है, उन्हे बन्धक कहते है।[1] इन कर्म बाँधने वाले जीवो का विचार बन्धक नामक दूसरे अर्थाधिकार मे किया जायेगा।

बन्धव्य—बन्धक जीवो द्वारा बाँधने योग्य आठ प्रकार के कर्मों को बन्धव्य कहते है।[2] इनका विचार तीसरे बन्धव्य अर्थाधिकार मे किया जायेगा।

बन्धहेतु—कर्म-परमाणुओ के साथ आत्म-प्रदेशो का अग्नि और लोहपिण्ड के समान परस्पर एकाकार सम्बन्ध होने को बन्ध कहते है।[3]

अथवा कर्म-प्रदेशो का आत्म-प्रदेशो मे एक क्षेत्रावगाह हो जाना बन्ध है।[4]

---

१ (क) बध्नन्त्यष्टप्रकार कर्म्म स्वप्रदेशैरिति बधका।

—पचसग्रह, स्वोपज्ञटीका पृ ३

(ख) बध्नन्ति सबध्नन्त्यष्टप्रकार कर्म स्वप्रदेशै सहेति बधका।

—पचसग्रह, मलयगिरिटीका पृ ४

२ (क) बद्धव्यम् इति बधनीय जीवैरात्मप्रदेशै।

—पचसग्रह, स्वोपज्ञटीका पृ. ३

(ख) बद्धव्य तदेवाष्टप्रकार कर्म।

—पचसग्रह मलयगिरिटीका पृ ४

३ कर्मपरमाणुभि सहात्मप्रदेशाना बह्न्ययस्पिण्डवदन्योऽन्यानुगमलक्षण सबधो बध।

—पचसग्रह, मलयगिरि टीका पृ ४

४ आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशलक्षणो बध।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक १/४/१७/२६/२६

इस बन्ध के हेतुओ—मिथ्यात्वादि को बन्धहेतु कहते है। इनका विचार चौथे बधहेतुद्वार मे किया जायेगा।

बन्धविधि—पूर्वोक्त स्वरूप वाले बध के प्रकृतिबध आदि प्रकारो को बन्धविधि कहते है। इनका विचार बन्धविधि नामक पाचवें द्वार मे किया जायेगा।

इस प्रकार से इन पाच द्वारो का सक्षेप मे स्वरूप और उनमे किये जाने वाले वर्णन की रूपरेखा जानना चाहिये।

अब यथाक्रम से उनका विस्तार से विवेचन करते है।

---

१. योगोपयोगमार्गणा

योग के भेद

उद्देश्य के अनुसार निर्देश-प्रतिपादन किया जाता है—इस न्याय से सर्वप्रथम पहले अर्थाधिकार योगोपयोगमार्गणा का कथन प्रारम्भ करते हैं। योग-उपयोग मे पहला योग है। योग का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। अत अब योग के भेद और उनका स्वरूप बतलाते हैं—

> सच्चमसच्च उभय असच्चमोस मणोवई अट्ठ।
> वेउव्वाहारोरालमिस्ससुद्धाणि कम्मयगं ॥४॥

शब्दार्थ—सच्चमसच्च—सत्य, असत्य, उभय—उभय—मिश्र, असच्चमोस—असत्यामृषा, मणोवई—मन, और वचन, अट्ठ—आठ, वेउव्वाहारोराल—वैक्रिय, आहारक और औदारिक, मिस्ससुद्धाणि—मिश्र और शुद्ध, कम्मयग—कर्मजक-कार्मण।

गाथार्थ—सत्य, असत्य, उभय—मिश्र और असत्यामृषा इस प्रकार मन और वचन के चार-चार प्रकार होने से कुल आठ तथा वैक्रिय, आहारक, औदारिक ये तीन मिश्र एव शुद्ध तथा कार्मण (इस प्रकार काययोग के सात भेद है, इनको मिलाने पर योग के कुल पन्द्रह भेद होते हैं।

विशेषार्थ—योग के पन्द्रह भेदो के नाम गाथा मे बतलाये हैं। ये भेद मगार्ग नात्र के ग्रहण आदि के माधनभूत मन, वचन और काय के अवलम्बन मे होने है। अत उनकी अपेक्षा योग के पन्द्रह भेद है। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

यद्यपि मन, वचन और काय के पुद्गलो के अवलंबन से उत्पन्न हुए, जीव के वीर्य-व्यापार को योग कहते हैं और वही वीर्य-व्यापार

मुख्य रूप से योग का वाचक है। लेकिन यहाँ जो पुद्गल उस वीर्य-व्यापार मे कारण हैं, उन मन, वचन और काय के पुद्गलो मे ही कार्य का आरोप करके उन पुद्गलो को योग शब्द से विवक्षित किया है। इसी अपेक्षा से मनोयोग के चार, वचनयोग के चार और काययोग के सात भेद होते है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

मनोयोग—१ सत्य मनोयोग, २ असत्य मनोयोग, ३ सत्य-असत्य मनोयोग, ४ असत्य-अमृषा मनोयोग (व्यवहार मनोयोग)।

वचनयोग—१ सत्य वचनयोग, २ असत्य वचनयोग, ३ सत्य-असत्य वचनयोग, ४ असत्य-अमृषा वचनयोग (व्यवहार वचनयोग)।

काययोग—१ वैक्रियकाययोग, २ वैक्रियमिश्र काययोग, ३ आहारक काययोग, ४ आहारकमिश्र काययोग, ५ औदारिक काययोग, ६ औदारिकमिश्र काययोग, ७ कार्मण काययोग।[1]

अब योग के उक्त पन्द्रह भेदो का स्वरूप बतलाते है।

मनोयोग के भेदो के लक्षण

सत्य मनोयोग—सत् अर्थात् प्राणी, जीव, आत्मा आदि। उनके लिये जो हितकर हो उसे सत्य कहते है।[2] अथवा 'सत्' यानि मुनि या पदार्थ। जो मुनि और पदार्थ को साधु—हितकर हो वह सत्य कहलाता है।[3] अथवा सम्यग्ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को सत्य कहते हैं। अर्थात् जैसा हो वैसा ही चिन्तन करना और कहना सत्य का सामान्य लक्षण है।

---

१ इस प्रकार से काययोग के भेदो के क्रमविधान का कारण आगे स्पष्ट किया जायेगा।

२ सत प्राणिनोऽभिधीयन्ते, तेभ्यो हित सत्यम्।

—पचसग्रह, स्वोपज्ञवृत्ति पृ.

३ सतो मुनय पदार्था वा तेषु साधु सत्यम्।

—पचसग्रह, .

अथवा पदार्थ के यथार्थ स्वरूप के चिन्तन करने को सत्य कहते हैं और इस प्रकार से पदार्थों को विषय करने वाले मन को सत्यमन कहते हैं।[1] जैसे कि जीव है, वह द्रव्यरूप मे सत् और पर्यायरूप मे असत् है और अपने-अपने शरीरप्रमाण है, इत्यादि रूप मे जिस प्रकार से वस्तु का स्वरूप है, उसी प्रकार से उसका विचार करने मे तत्पर मन सत्यमन कहलाता है। अर्थात् समीचीन रूप से पदार्थ को विषय करने वाले मन को सत्यमन कहते हैं और उसके द्वारा होने वाले योग को सत्य मनोयोग कहते है।

असत्य मनोयोग—सत्य से विपरीत को असत्य कहते है।[2] जैसे कि जीव नही है, अथवा एकान्त नित्य है या एकान्त अनित्य है, इत्यादि, जिस प्रकार से वस्तु का स्वरूप नही है, उस रूप मे उसका विचार करने मे तत्पर मन असत्यमन कहलाता है और उसके द्वारा होने वाले योग को असत्य मनोयोग कहते है।

सत्यासत्य मनोयोग—इसको सक्षेप मे उभय या मिश्र मनोयोग भी कहते हैं। सत्य और असत्य से मिश्रित अर्थात् जिसमे सत्याश भी हो और आशिक असत्य भी हो, इस प्रकार सत्य-असत्य से मिश्रित को सत्यासत्य कहते हैं।[3] जैसे कि धव, खदिर और पलाश आदि से मिश्रित और अधिक अशोकवृक्ष वाले वन को 'यह अशोकवन ही है' ऐसा विकल्पात्मक चिन्तन सत्यासत्य कहलाता है और उस प्रकार के मन को सत्यासत्य—मिश्रमन कहते है तथा उसके द्वारा होने वाले योग को सत्यासत्य (मिश्र—उभय) मनोयोग कहते है।

---

१ सब्भावमणो सच्चो। —गोम्मटसार, जीवकाड गाथा २१७

२ (क) तद्विपरीतमसत्यम्। —पचसग्रह, स्वोपज्ञवृत्ति पृ ४

(ख) सत्यविपरीतमसत्यम्। —पचसग्रह, मलयगिरिटीका पृ ५

(ग) तव्विवरीओ मोसो। —गोम्मटसार, जीवकाड गाथा २१७

३ (क) सत्यासत्य द्विस्वभाव। —पचसग्रह, स्वोपज्ञवृत्ति पृ ४

(ख) जाणुभयसच्चमोसोत्ति। —गोम्मटसार, जीवकाड गाथा २१७

मिश्र मनोयोग के स्वरूप का उक्त कथन व्यवहारनयापेक्षा समझना चाहिये। यथार्थतया तो उसका असत्य मे अन्तर्भाव होता है। क्योकि जिस रूप में वस्तु का विचार किया है, उस रूप मे वह वस्तु नही है।[1]

असत्यामृषा मनोयोग—जो मन न तो सत्य हो और असत्य रूप भी नही हो, उसे असत्यामृषा मन कहते है। अर्थात् मन के द्वारा किया जाने वाला विचार सत्यरूप भी न हो, उसी प्रकार असत्यरूप भी न हो, तब वह असत्यामृषा कहलाता है और उसके द्वारा जो योग होता है, उसको असत्यामृषा मनोयोग कहते है।[2]

जब किसी विषय मे विप्रतिपत्ति—विवाद उपस्थित हो, तब पदार्थ की स्थापना करने की बुद्धि से सर्वज्ञ के मतानुसार जो विकल्प किये जाते है जैसे कि जीव है और वह द्रव्यरूप से सत् और पर्यायरूप से असत है तो इस प्रकार का विकल्प सत्य कहलाता है। क्योकि इस प्रकार का निर्णय करने मे आराधकभाव है। लेकिन विवाद के प्रसग मे जब अपने मतव्य को पुष्ट करने के लिए सर्वज्ञ के मत के विपरीत स्वबुद्धि से वस्तु की स्थापना करने हेतु विकल्प किये जायें, जैसे कि जीव नही है, अथवा एकान्त नित्य है या एकान्त अनित्य है, यह असत्य है। क्योकि ऐसा विकल्प करने मे विराधकभाव है। किन्तु इस प्रकार का स्वरूप वाला सत्य या असत्य दोनो जिसमे न हो और जो विकल्प पदार्थ के स्थापन या उत्थापन की बुद्धि के बिना ही मात्र स्वरूप का विचार करने मे प्रवृत्त हो, यथा—देवदत्त घडा लाओ, मुझे गाय दो इत्यादि, वह असत्यामृषा मन कहलाता है। क्योकि इस प्रकार

---

१ व्यवहारनयमतापेक्षया चैवमुच्यते, परमार्थत पुनरिदमसत्यमेव, यथा विकल्पितार्थायोगात्। —पचसग्रह, मलयगिरि टीका पृ. ५

२ ण य सच्चमोसजुत्तो जो हु मणो सो असच्चमोसणो।
जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो॥
—गोम्मटसार, जीवकाड गाथा २१८

के विकल्प द्वारा मात्र स्वरूप का ही विचार किये जाने से यथोक्त लक्षणरूप सत्य या असत्य नही है। इस रूप मे मन के द्वारा किया जाने वाला विचार असत्यामृषा मनोयोग कहलाता है।

उक्त कथन भी व्यवहारनयापेक्षा जानना चाहिये। अन्यथा विप्रतारण—ठगाई आदि दुष्ट-मलिन आशयपूर्वक यदि विचार किया जाता है तो उसका असत्य मे और शुद्ध आशय से विचार किया जाता है तो उसका सत्य मे अन्तर्भाव हो जाता है।

सारांश यह है कि सत्य और असत्य यह दो विकल्प मुख्य हैं और शेष दो विकल्प—सत्यासत्य और असत्यामृषा व्यवहारदृष्टिसापेक्ष है। लेकिन निश्चय और व्यवहार ये दोनो नयसापेक्ष है, अत उनको भी भेद रूप मे माना है। क्योंकि मानसिक चिन्तन के ये रूप भी हो सकते हैं।

इस प्रकार से मनोयोग के चार भेद जानना चाहिये।

वचनयोग के भेदो के लक्षण

विचार की तरह वचन के भी सत्य आदि चार प्रकार होते हैं। अत मनोयोग की तरह वचनयोग के चार भेद है और नाम भी तदनुरूप हैं—

१ सत्य वचनयोग, २ असत्य वचनयोग, ३ उभय वचनयोग, ४ असत्यामृषा वचनयोग।

दस प्रकार के सत्य[1] अर्थ के वाचक वचन को सत्य वचन और उससे होने वाले योग को सत्य वचनयोग कहते हैं तथा इससे जो विपरीत है, उसको मृषा—असत्य और जो कुछ सत्य और कुछ असत्य का

---

१ जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, व्यवहारसत्य, सम्भावनासत्य, भावसत्य, उपमासत्य, इस प्रकार सत्य के दस भेद हैं।

वाचक है, उसको उभय वचनयोग कहते है[1] तथा जो न सत्य रूप हो और न मृषारूप ही, हो उसे असत्यामृषा—अनुभय वचनयोग कहते है ।[2]

इस प्रकार मनोयोग और वचनयोग के चार-चार भेदो के लक्षणो का विचार करने के पश्चात् अब काययोग के सात भेदो के लक्षण बतलाते है।

काययोग के भेदो के लक्षण

काययोग के सात भेदो मे से आदि के छह भेदो का सकेत करने के लिए गाथा मे 'वेउव्वाहारोरालमिस्ससुद्धाणि' पद दिया है। अर्थात् वैक्रिय, आहारक और औदारिक ये तीन शरीर मिश्र भी होते है और शुद्ध भी है। जिसका अर्थ यह हुआ कि मिश्र शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होने से वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र और औदारिकमिश्र ये तीन भेद मिश्र के हुए और 'सुद्धाणि' यानी मिश्र शब्द के सयोग से रहित वैक्रिय, आहारक और औदारिक ये तीन भेद शुद्ध के है। इस प्रकार से मिश्र और शुद्ध की अपेक्षा काययोग के छह भेदो के नाम यह है—

१ वैक्रिय, २ वैक्रियमिश्र, ३ आहारक, ४ आहारकमिश्र, ५ औदारिक, ६ औदारिकमिश्र ।

गाथा मे उत्पत्ति क्रम को दृष्टि मे रखकर मिश्र काययोगो का निर्देश करने के बाद शुद्ध काययोगो का निर्देश किया गया है। यानी पहले वैक्रियमिश्र, अनन्तर शुद्ध वैक्रिय काययोग आदि होते हैं।[3]

---

१ दसविहसच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो ।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभय सच्चमोसोत्ति ॥
—गोम्मटसार, जीवकाड गा २१९

२ जो णेव सच्चमोसो सो जाण असच्चमोसवचिजोगो ।
—गोम्मटसार, जीवकाड गा २२०

३ गाथाया पूर्वं मिश्रनिर्देशो भवन क्रमसूचनार्थं ।
—पचसग्रह, मलयगिरि टीका पृ ५

तथापि शुद्ध भेदो की व्याख्या किये बिना मिश्र भेदो को समझना सम्भव नही होने से प्रथम शुद्ध वैक्रिय काययोग आदि तीनो की व्याख्या करते है—

वैक्रिय काययोग—अनेक प्रकार की अथवा विशिष्ट क्रिया को विक्रिया कहते है और उसको करने वाला शरीर वैक्रियशरीर कहलाता है।[1] अर्थात् विक्रिया जिस शरीर का प्रयोजन हो उसे वैक्रियशरीर कहते हैं। जिसको इस प्रकार समझना चाहिए कि यह शरीर एक होकर भी अनेक हो सकता है, आकाशगामी होकर भी भूमि पर चलता है, जमीन पर चलने वाला होकर भी आकाशचारी होता है, दृश्य होकर भी अदृश्य होता है और अदृश्य होकर भी दृश्य हो सकता है। इस प्रकार की विविध क्रियायें इस शरीर के द्वारा शक्य होने से यह शरीर वैक्रिय कहलाता है और वैक्रियशरीर के द्वारा होने वाले योग को यानी वैक्रियशरीर के अवलम्बन से उत्पन्न परिस्पन्द द्वारा होने वाले प्रयत्न को वैक्रिय काययोग कहते हैं।[2]

वैक्रियशरीर के दो प्रकार हैं—(१) औपपातिक और (२) लब्धि-प्रत्ययिक।[3] इनमे से उपपात—देव, नारको का जन्म—जिसमे कारण हो उसे औपपातिक कहते है। औपपातिक तो जन्म के निमित्त से निश्चित रूप से होता है। यह उपपातजन्य वैक्रियशरीर देव और नारको का होता है[4] और लब्धि—शक्ति, तदनुकूल वीर्यान्तरायकर्म का क्षयोपशम जिसमे प्रत्यय—कारण हो, वह लब्धिप्रत्ययिक वैक्रिय-

---

१ विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्या भव वैक्रियम् ।

—पचसग्रह, मलयगिरि टीका पृ. ५

२ तिस्से भव च णेय वेगुव्वियकायजोगो सो ।

—गोम्मटसार, जीवकाड गा २३१

३ वैक्रियमौपपातिक । लब्धिप्रत्यय च । —तत्त्वार्थसूत्र २/४६, ४७

४ नारकदेवानामुपपात । —तत्त्वार्थसूत्र २/३५

शरीर कहलाता है। वह किन्ही-किन्ही तिर्यंच और मनुष्यो को होता है। क्योकि सभी तिर्यंचो व मनुष्यो को विक्रियालब्धि नही होती है।

उक्त वैक्रियशरीर जब तक पूर्ण नही होता है, तब तक उसको वैक्रियमिश्र कहते है। अर्थात् वैक्रियशरीर की उत्पत्ति के प्रारम्भिक समय से लगाकर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्त के मध्यवर्ती अपूर्ण शरीर को वैक्रियमिश्र कहते है और उसके द्वारा होने वाले योग को वैक्रियमिश्र काययोग कहते है।[1]

वैक्रियमिश्र देवो और नारको को अपर्याप्त अवस्था मे होता है और मनुष्य, तिर्यंच जब वैक्रियशरीर की विकुर्वणा करते है, तब उसके प्रारम्भ काल और त्याग काल मे होता है।[2]

आहारक काययोग—तीर्थंकर भगवान् की ऋद्धि के दर्शन करने अथवा इसी प्रकार के अन्य किसी विशिष्ट प्रयोजन के उपस्थित होने पर, जैसे कि प्राणिदया, सूक्ष्म पदार्थों का निर्णय करने मे शका उत्पन्न होने पर उसका निर्णय करने के लिए समीप (भरत-ऐरवत क्षेत्र) मे केवली भगवान् का सयोग न मिलने से सशय को दूर करने के लिए महाविदेहक्षेत्र मे औदारिकशरीर से जाना शक्य न होने पर विशिष्ट लब्धि के वश चतुर्दशपूर्वधारी सयत के द्वारा आहारक-वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके जो निर्मित किया जाता है, उसे आहारकशरीर कहते है।[3]

---

१ वेगुव्विय उ तत्थ विजाणमिस्स तु अपरिपुण्ण त।
जो तेण सपजोगो वेगुव्वियमिस्स जोगो सो॥
—गोम्मटसार, जीवकाड गाथा २३३

२ वैक्रियमिश्र देवनारकाणामपर्याप्तावस्थाया नरतिरश्चा वा वैक्रियस्य प्रारम्भकाले परित्यागकाले वा क्वचित्।
—पचसग्रह, मलयगिरि टीका पृ ५

३ पाणिदयरिद्धिदसणसुहुमपयत्थावगहण हेउ वा।
ससयवोच्छेयत्थ गमण जिणपायमूलम्मि॥१॥

यह आहारकशरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघातरहित है।[1] अर्थात् यह आहारकशरीर रस, रुधिर आदि सप्त धातुओ से रहित, शुभ पुद्गलो से निर्मित, शुभ प्रशस्त अवयव और प्रशस्त सस्थान—समचतुरस्रसस्थान, स्फटिकशिला के समान अथवा हस के समान धवल वर्ण वाला और सर्वांगसुन्दर होता है। वैक्रियशरीर की अपेक्षा अत्यन्त प्रशस्त होता है तथा इसका काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।[2]

यह आहारकशरीर किन्ही-किन्ही श्रुतकेवलियो को होता है, सभी को नही। क्योकि सभी श्रुतकेवलियो को आहारकलब्धि नही होती है और जिनको होती भी है, वे भी उपर्युक्त कारणो के होने पर लब्धि का उपयोग करते हैं।

इस आहारकशरीर द्वारा उत्पन्न होने वाले योग को आहारक काययोग कहते है।

आहारकशरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लेकर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्त के मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीर को आहारकमिश्र काय और उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले योग को आहारकमिश्र काययोग कहते हैं।

औदारिक काययोग—पुरु, महत्, उदार, उराल ये एकार्थवाची शब्द है। अत जो उदार (स्थूल) पुद्गलो से बना हुआ हो, उसे औदारिक-शरीर कहते है।

अथवा जो शरीर उदार अर्थात् प्रधान, श्रेष्ठ हो, वह औदारिक-शरीर कहलाता है। इस शरीर का प्राधान्य—श्रेष्ठत्व तीर्थंकरो और गणधरो के शरीर की अपेक्षा समझना चाहिये। यद्यपि देवो मे अनुत्तर देवो का शरीर भी अत्यन्त कान्तिवाला और प्रशस्त है, लेकिन वह शरीर भी तीर्थंकरो और गणधरो के शरीर की अपेक्षा अत्यन्त गुणहीन है।

अथवा उदार मोटा, स्थूल जो शरीर हो उसे औदारिकशरीर कहते हैं। क्योकि यह शरीर कुछ अधिक एक हजार योजन प्रमाण बडे से बडा हो सकता है।[1] जिससे शेष शरीरो की अपेक्षा बृहत् प्रमाण वाला है। वैक्रियशरीर मे इस शरीर की बृहत्ता भवधारणीय[2] स्वाभाविक मूल शरीर की अपेक्षा से जानना चाहिये, अन्यथा तो उत्तर वैक्रियशरीर[3] एक लाख योजन प्रमाण वाला भी होता है।

यह औदारिकशरीर मनुष्यो और तिर्यंचो मे पाया जाता है। लेकिन मनुष्यो मे इतनी विशेषता है कि तीर्थंकरो और गणधरो का शरीर प्रधान (सारयुक्त) पुद्गलो से और शेष मनुष्यो और तिर्यंचो का शरीर असार पुद्गलो से बनता है।

इस औदारिकशरीर से उत्पन्न शक्ति के द्वारा जीव के प्रदेशो मे परिस्पन्द का कारणभूत जो प्रयत्न होता है, वह औदारिक काययोग कहलाता है।

पूर्वोक्त औदारिकशरीर जब तक पूर्ण नही होता है तब तक औदारिकमिश्र कहलाता है। अर्थात् औदारिकशरीर की उत्पत्ति

१ प्रत्येक वनस्पतिकाय का शरीर कुछ अधिक एक हजार योजन का है।
२ जन्म से मरण पर्यंत जो शरीर रहे, उसे भवधारणीय शरीर कहते हैं।
३ अपने मूल शरीर से अन्य जो शरीर किया जाता है, उसे उत्तरवैक्रिय कहते हैं। उत्तर यानी दूसरा। यह शरीर एक साथ एक अथवा उससे भी अधिक किया जा सकता है।

प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व अन्तर्मुहूर्त तक मध्यवर्ती काल मे कार्मणशरीर की सहायता से होने वाले औदारिक काययोग को औदारिकमिश्र काययोग कहते हैं।[1]

यह औदारिकमिश्र मनुष्यो और तिर्यंचो को अपर्याप्त अवस्था मे तथा केवलि समुद्घातावस्था मे भी दूसरे, छठे और सातवें समय मे होता है।[2]

इस प्रकार से वैक्रिय आदि शुद्ध और मिश्र के छह काययोगो का स्वरूप जानना चाहिये।

यदि इन औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरो मे उत्पत्ति-सम्बन्धी विशेषता का विचार किया जाये तो औदारिकशरीर भव-प्रत्ययिक और आहारकशरीर लब्धि-प्रत्ययिक ही है लेकिन वैक्रिय शरीर भव-प्रत्ययिक और लब्धि-प्रत्ययिक दोनो प्रकार का है।

अब काययोग के अन्तिम भेद कार्मणकाय योग का स्वरूप बतलाते हैं।

कार्मण काययोग—कर्मरूप जो शरीर है, वह कार्मणशरीर है। अर्थात् आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह एकाकार हुई ज्ञानावरणादि आठो कर्मों की अनन्तानन्त वर्गणाओ का जो पिण्ड है, वह कार्मणशरीर है। अथवा जो कर्म का विकार—कार्य है, ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के

---

१ ओरालिय उ तत्थ विजाण मिस्स तु अपरिपुण्ण त।
जो तेण सपजोगो ओरालियमिस्स जोगो सो॥

—गोम्मटसार, जीवकाड गाथा २३०

२ औदारिकमिश्र नरतिरश्चामपर्याप्तावस्थाया केवलिसमुद्घातावस्थाया वा।

—पचसग्रह, मलयगिरिटीका पृ ५

विचित्र कर्मों से बना हुआ है और समस्त शरीरो का कारणभूत है, उसे कार्मणशरीर जानना चाहिए।[1]

यह कार्मणशरीर औदारिक आदि समस्त शरीरो का कारणभूत—बीजभूत है। क्योंकि भवप्रपच को वृद्धि के बीज—कार्मणशरीर का जब तक सद्भाव है, तब तक ही ससार और शेष शरीर है, किन्तु जब मूल से इसका नाश हो जाता है, तब शेष शरीरो की उत्पत्ति सम्भव नही है और न ससार ही रहता है। यह कार्मणशरीर ही एक गति से दूसरी गति मे जाने के लिए मूलभूत साधन है। अर्थात् वर्तमान भव का त्याग करने के पश्चात्—मरण होने पर जब भवान्तर का शरीर ग्रहण करने के लिए जीव गमन करता है, तब कार्मणशरीर के योग से गमन करके उत्पत्तिस्थान को ओर जाता है और उस नवीन भव के शरीर को धारण करता है। इस प्रकार यह कार्मणशरीर आगामी सर्व कर्मों का प्ररोहण—आधार, उत्पादक और त्रिकाल विषयक समस्त सांसारिक सुख-दु.खादि का बीज है।

कार्मणशरीर अवयवी है और ज्ञानावरणादि आठो कर्मों की उत्तर प्रकृतिया अवयव है। कार्मणशरीर और उत्तर प्रकृतियो का अवयव-अवयवीभाव सम्बन्ध है।

इस कार्मण शरीर के द्वारा होने वाले योग को कार्मणयोग कहते है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिक आदि शरीरवर्गणाओ के बिना सिर्फ कर्म से उत्पन्न हुए वीर्य (शक्ति) के निमित्त से आत्मप्रदेश-परिस्पन्द रूप जो प्रयत्न है, उसे कार्मण काययोग जानना चाहिये।

---

१ (क) कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्न।

—पचसगह, मलयगिरिटीका पृ ५

(ख) कर्मणा निर्वृत्त कार्मण, कर्मणि भव वा कार्मण, कर्मात्मक वा कार्मणमिति। —पचसग्रह, स्वोपज्ञवृत्ति पृष्ठ ४

कार्मण काययोग से ही ससारी आत्मा मरणदेश को छोडकर उत्पत्तिस्थान की ओर जाती है, इसको आधार बनाकर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है कि—

प्रश्न—जब कार्मणशरीरयुक्त आत्मा एक गति से गत्यन्तर मे जाती है, तब जाते-आते वह दृष्टिगोचर क्यो नही होती—दिखती क्यो नही है ?

उत्तर—आत्मा अचाक्षुष है और कर्म पुद्गलो के अत्यन्त सूक्ष्म होने से वे चक्षु आदि इन्द्रियो के विषयभूत नही होते है। जिससे एक भव से दूसरे भव मे जाते हुए भी वीच मे भवशरीर—भव के साथ सम्बन्ध वाला शरीर होने पर भी निकलते और प्रवेश करते समय सूक्ष्म होने से वह दिखलाई नही देती है, किन्तु दिखलाई न देने मात्र से उसका अभाव नही समझना चाहिए।[1]

इस प्रकार से चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग, कुल पन्द्रह योगो का स्वरूप जानना चाहिये।

अब तैजस काययोग न मानने और योगो के क्रम विन्यास के बारे मे विचार करते है।

जिज्ञासु तैजस काययोग न मानने के सम्बन्ध मे अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करता है।

प्रश्न—औदारिकादि शरीरो की तरह तैजस भी शरीर है जो खाये हुए आहार-भोजन के पाक का कारण है और जिसके द्वारा विशिष्ट तपोविशेष से उत्पन्न हुई तेजोलेश्यालब्धि वाले पुरुष की तेजोलेश्या का निकालना होता है। इस प्रकार तैजसशरीर के निमित्त से आत्मप्रदेश-परिस्पन्दरूप प्रयत्न होता है। अत उसको काययोग

---

१ अतराभवदेहोऽपि सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते ।
निष्क्रामन् वा प्रविशन् वा नाभावोऽनीक्षणादपि ॥

—पचसग्रह, मलयगिरि टीका पृ ६

के भेदो मे ग्रहण करके काययोग के आठ और योगो के कुल सोलह भेद मानना चाहिये।

उत्तर—कार्मणशरीर के साथ सदैव अव्यभिचारी नियत सम्बन्ध वाला होने से कार्मण के ग्रहण द्वारा तैजसशरीर का भी ग्रहण कर लिया गया समझना चाहिए तथा तैजस और कार्मण यह दोनो अविनाभावपूर्वक अनादिकाल से जीव के साथ सम्बद्ध है। अत तैजस काययोग का पृथक् निर्देश नही किया है।[1] इसीलिये योगो के पन्द्रह भेद बतलाये है।

योगो का क्रम विन्यास

प्रश्न—योगो का यह कैसा क्रमविन्यास ? क्योकि समस्त ससारी जीवो मे सर्वप्रथम काययोग, तत्पश्चात् वचनयोग का विकास देखा जाता है और मनोयोग तो सभी जीवो मे न होकर सिर्फ सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे ही पाया जाता है। अत इसी क्रम से योगो के भेदो का विन्यास करना चाहिए था। अर्थात् काययोग तो एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के सभी जीवो मे समान रूप से है, अत पहले काययोग का निर्देश करना चाहिये था और वचनयोग द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के जीवो मे पाया जाता है अत. काययोग के बाद वचनयोग का और मनोयोग तो मात्र सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे होता है, अतः उसका सबसे अन्त मे विन्यास करना चाहिये था जिससे उनकी विशेषता ज्ञात होती। परन्तु ऐसा न करके पहले मनोयोग, पश्चात् वचनयोग और अन्त मे काययोग के कथन करने का क्या कारण है ?

उत्तर—अल्पवक्तव्यता के कारण तथा मनोयोग की प्रधानता बतलाने के लिये एव आगम मे इसी प्रकार का क्रम प्रसिद्ध होने से तथा योगनिरोधकाल मे इसी प्रकार से निरोध किये जाने के

---

१ (क) सदा कार्मणेन सहाव्यभिचारितया तस्य तद्ग्रहणेनैव गृहीतत्त्वात्।
—पचसग्रह, मलयगिरिटीका पृ ६

(ख) अनादिसम्बन्धे च। —तत्त्वार्थसूत्र २/४२

कारण पश्चानुपूर्वी से मन, वचन और काय योग का क्रमोपन्यास किया है।

मनोयोग आदि के उत्तरभेदो के क्रमविधान के विषय मे यह दृष्टिकोण है—

प्रधान मुख्य होने से पहले सत्य मनोयोग का, तत्पश्चात् उससे विपरीत, प्रतिपक्षी होने से असत्य मनोयोग का, अनन्तर उभयाश्रयी होने से सत्यमृषा का और अन्त मे विकल्पविहीन मन का बोध कराने और आगम मे इसी प्रकार से उल्लेख किये जाने के कारण असत्यामृषा मनोयोग का विधान किया है। इसी प्रकार से वचनयोग के भेदो के क्रम के लिये भी समझना चाहिये।

काययोग के भेदो मे पहले वैक्रिय का निर्देश चतुर्गति के जीवो मे सम्भव होने से किया है। तत्पश्चात् वैक्रिय से भी अधिक श्रेष्ठ होने से वैक्रिय के बाद आहारक योग का और मोक्षप्राप्ति का साधन होने से, वैक्रिय और आहारक से भी श्रेष्ठ तथा लब्धिजन्य वैक्रियशरीर और आहारकशरीर का आधार होने से उनके बाद औदारिकशरीर का क्रमविधान किया है और कार्मण काययोग के अन्त होने पर ससार का भी अन्त हो जाता है, यह बताने के लिए सबसे अन्त मे कार्मण काययोग का निर्देश किया है।

इस प्रकार से योगविषयक विवेचन जानना चाहिये।

उपयोग-विचारणा

अब योग के अनन्तर क्रम प्राप्त उपयोग के भेदो का प्रतिपादन करते है—

अन्नाणतिग नाणाणि, पच इइ अट्ठहा उ सागारो।
अचक्खुदसणाइउचउहुवओगो अणागारो ॥५॥

शब्दार्थ—अन्नाणतिग—(अज्ञानत्रिक) तीन अज्ञान, नाणाणि—ज्ञान, पच—पाच, इइ—इस प्रकार, अट्ठहा—आठ प्रकार का, उ—और, सागारो—

साकारोपयोग, **अचक्खुदसणाइ**—अचक्षुदर्शनादि, **चउह**—चार प्रकार का, **उवओगो**—उपयोग, **अणागारो**—अनाकार।

गाथार्थ—तीन अज्ञान और पाच ज्ञान, इस प्रकार साकारोपयोग आठ प्रकार का है और अचक्षुदर्शनादि चार प्रकार का अनाकारोपयोग है।

विशेषार्थ—गाथा मे उपयोग के प्रकारो, उनके भेदो की सख्या और नाम बताये हैं।

उपयोग का लक्षण पहले कहा जा चुका है। चैतन्यानुविधायी परिणामरूप यह उपयोग जीव के सिवाय अन्य द्रव्यो मे नही पाया जाता है। जीव की प्रवृत्ति मे सदैव अन्वयरूप से उसका परिणमन होता रहता है। जीव का स्वरूप होने से उपयोग का वैसे तो कोई भेद नही किया जा सकता है, लेकिन वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।[1]

ये सामान्य और विशेष सर्वथा स्वतन्त्र धर्म नही है। क्योकि जैसे सामान्य से सर्वथा भिन्न विशेष नाम का कोई पदार्थ नही है, वैसे ही अपने विशेष को छोडकर केवल सामान्य भी कही पर नही पाया जाता है।[2] किन्तु सामान्य से अनुविद्ध होकर ही विशेष की उपलब्धि होती है और विशेष से अनुस्यूत सामान्य की।[3]

फिर भी इन दोनो मे कथचित् भेद है। क्योकि सामान्य अन्वय, निर्विकल्प लक्षण वाला है और विशेष व्यतिरेक, सविकल्प स्वरूप वाला। उपयोग के द्वारा वस्तु के ये दोनो धर्म ग्रहण किये

---

१ सामान्यविशेषात्मक वस्तु। —आप्तपरीक्षा ६

२ निर्विशेष हि सामान्य भवेत्खरविषाणवत्।
मामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि॥

—आप्तपरीक्षा ६

३ ण सामण्णवदिरित्तो विसेसो वि अत्थि, सामण्णाणुविद्धस्सेव विसेसस्सुवलभादो। —कषायपाहुड १/१/२०

जाते हैं। जिससे उपयोग के दो भेद हो जाते हैं—(१) अनाकारोपयोग और (२) साकारोपयोग।[1]

निर्विकल्प, सामान्य को ग्रहण करने वाले उपयोग को अनाकारोपयोग[2] और सविकल्प, विशेष को ग्रहण करने वाले उपयोग को साकारोपयोग कहते हैं।[3]

साकार और अनाकार उपयोग के क्रमश ज्ञान और दर्शन ये अपर नाम हैं।[4] ज्ञान और दर्शन को क्रमश साकार और अनाकार रूप मानने का कारण यह है कि ज्ञान पदार्थों को विशेष-विशेष करके अर्थात् नाम, जाति, गुण लिंगादि धर्मों की ओर अभिमुख होकर जानता है इसीलिये ज्ञान साकारोपयोगी है और दर्शन सामान्य-विशेषात्मक पदार्थों के आकार-विशेष को ग्रहण न करके केवल निर्विकल्प रूप से स्वरूप मात्र सामान्य का ग्रहण करने वाला होने से अनाकारो-

---

१ (क) सो दुविहो णायव्वो सायारो चेवणायारो।
—गोम्मटसार, जीवकाड गाथा ६७१

(ख) स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदा।
—तत्त्वार्थसूत्र २/६

२ (क) अनाकार, पूर्वोक्तस्वरूपाकारविवर्जित उपयोग।
-पचसग्रह, मलयगिरिटीका पृ ७

(ख) यत्सामान्यमनाकार।
—पचाध्यायी उ० ३६४

(ग) अविसेसिऊण ज गहण उवओगो सो अणागारो।
—गोम्मटसार, जीवकाड गाथा ६७४

३ (क) आकार प्रतिवस्तुनियतो ग्रहण परिणाम 'आगारो उ विसेसो' इति वचनात्, सह आकारेण वर्त्तत इति साकार।
—पचसग्रह, मलयगिरिटीका पृ ७

(ख) सहाकारेण वर्त्तत इति साकार वस्तुस्वरूपावधारणरूपो विशेषज्ञानमिति।
—पचसग्रह, स्वोपज्ञवृत्ति पृ ६

(ग) साकार तद्विशेषभाक्।
—पचाध्यायी उ० ३६४

४ साकार ज्ञानम अनाकार दर्शनमिति।
—सर्वार्थसिद्धि २/६

मति-श्रुत ज्ञान और मति-श्रुत अज्ञान ये चार ज्ञान पदार्थ को जानने मे पर-निमित्तो की अपेक्षा वाले होने से परोक्ष है तथा अवधि, मन पर्यव और केवलज्ञान तथा विभगज्ञान प्रत्यक्ष है। इनमे भी अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और विभगज्ञान मूर्त पदार्थों को जानने वाले होने से देशप्रत्यक्ष है तथा मूर्त-अमूर्त सभी त्रिकालवर्ती पदार्थों को जानने वाला होने से केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष कहलाता है।

अब ज्ञानोपयोग के उक्त आठ भेदो का सरलता से बोध कराने के लिये पहले पाच ज्ञानो के लक्षणो का विचार करते है और इन्ही के बीच यथाप्रसग तीन अज्ञानो के लक्षणो का भी उल्लेख किया जायेगा।

मतिज्ञान—'मन् अवबोधे' अर्थात् मन् धातु जानने के अर्थ मे प्रयुक्त होती है। अत मनन करना, जानना, उसे मति कहते है। अथवा पाच इन्द्रियो और मन के द्वारा जो नियत वस्तु का बोध होता है, उसे मति कहते है। अर्थात जिस योग्य देश मे विद्यमान विषय को इन्द्रियाँ जान सकें, उस स्थान मे रहे हुए विषय का पाच इन्द्रियो और मन रूप साधन के द्वारा जो बोध होता है, उसे मतिज्ञान कहते है।[1]

मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध, ये सभी मतिज्ञान के नामान्तर हैं।[2]

(ख) अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव प्रतिनियत प्रत्यक्षम्।
—सर्वार्थसिद्धि १/१२

१ मनन मति यद्वा मन्यते इन्द्रियमनोद्वारेण नियत वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मति, योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष, मतिश्चासौ ज्ञान च मतिज्ञानम्।

—पचसग्रह मलयगिरिटीका, पृ ६

२ मति स्मृति सज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।

—तत्त्वार्थसूत्र १/१३

श्रुतज्ञान—'श्रवण श्रुत'—श्रवण करना—सुनना, यह श्रुत है। वाच्य-वाचकभाव के सम्बन्धपूर्वक शब्दसम्बन्धी अर्थ को जानने मे हेतुभूत ज्ञानविशेप श्रुतज्ञान कहलाता है।[1] जलधारण आदि अर्थक्रिया करने मे समर्थ अमुक प्रकार की आकृति वाली वस्तु घट शब्द द्वारा वाच्य है—इत्यादि रूप से जिसमे समानपरिणाम प्रधान रूप से है, इस प्रकार शब्द और अर्थ की विचारणा का अनुसरण करके होने वाला इन्द्रिय और मनोनिमित्तक बोध श्रुतज्ञान है।[2] अथवा मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमे हो, उसे श्रुतज्ञान कहते है।[3] जैसे कि घट शब्द को सुनकर और आँख से देखने के बाद उसके बनाने वाले, रग, रूप आदि सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयो का विचार श्रुतज्ञान द्वारा किया जाता है।

अवधिज्ञान—'अव' शब्द अध (नीचे) अर्थ का वाचक है। अत॰ 'अधोऽधो विस्तृत वस्तु धीयते परिच्छिद्यते अनेन इत्यवधि'—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जिस ज्ञान के द्वारा आत्मा नीचे-नीचे विस्तार वाली वस्तु जान सके, वह अवधिज्ञान है।[4] अथवा अवधि शब्द का अर्थ मर्यादा भी होता है। अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष करने की योग्यता वाला है, अरूपी को ग्रहण नही करता है, यही

---

१ श्रवण श्रुत वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दससृष्टार्थग्रहणहेतुरूप-लब्धिविशेष । —पचसग्रह मलयगिरिटीका, पृ ६

२ शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तो ज्ञानविशेष, श्रुत च तद्ज्ञान च श्रुतज्ञानम् । —पचसग्रह मलयगिरिटीका, पृ ६

३ अत्थादो अत्थतरमुवलभत भणति सुदणाण ।
आभिणिबोहियपुव्व ·· ।
—गोम्मटसार जीवकाड, गाथा ३१५

४ यह कथन वैमानिक देवो की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योकि वे नीचे-नीचे अधिक-अधिक जानते है, किन्तु ऊपर तो अपने विमान की ध्वजा तक ही जानते हैं। —सम्पादक

उसकी मर्यादा है। अत रूपी द्रव्य को ही जानने रूप मर्यादा वाला आत्मा को जो प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते है।[1] अथवा बाह्य अर्थ को साक्षात् करने वाले आत्मा के व्यापार को अवधि-ज्ञान कहते है।[2]

ये तीनो ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जब मिथ्यात्व-मोह के उदय से कलुषित होते है, तब वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से न जानने वाले होने के कारण अनुक्रम से मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभगज्ञान कहलाते है।[3] विभगज्ञान मे 'वि' शब्द विपरीत अर्थ का वाचक है। अत जिसके द्वारा रूपी द्रव्य का विपरीत भग—बोध होता है, वह विभगज्ञान कहलाता है।[4] यह ज्ञान अवधिज्ञान से उलटा है।

मन पर्यवज्ञान—'मन', 'परि' और 'अव' इन तीन का सयोगज रूप मन पर्यव शब्द है। इनमे से 'परि' शब्द सर्वथा अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, 'अवन अव:'—जानना, 'मनसि मनसो वा पर्यव मन.पर्यव.'—मन के भावो का सर्वथा रूप से जो ज्ञान होता है, उसे मन.पर्यवज्ञान कहते है, अर्थात् जिसके द्वारा ढाई द्वीप मे रहे हुए सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के मनोगत भावो, विचारो को जाना जा सके, उसे मन.पर्यव या मन:-पर्यय ज्ञान कहते हैं। अथवा सपूर्णतया मन का जो जाने वह मन.पर्याय

---

१ (क) यद्वा अवधिर्मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, तदुपलक्षित ज्ञानमप्यवधि, अवधिश्चासौ ज्ञान च अवधिज्ञानम्।
—पचसग्रह मलयगिरि टीका, पृ ६

(ख) रूपिष्ववधे।
—तत्त्वार्थसूत्र १/२८

२ यद्वा अवधानम् आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधि अवधिश्चासौ ज्ञान चावधिज्ञानम्।
—नन्दीसूत्र टीका

३ मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।
—तत्त्वार्थसूत्र १/३२

४ विभगमति विपरीतो भङ्ग परिच्छित्तिप्रकारो यस्य तद् विभङ्गम्।
—पचसग्रह मलयगिरि टीका, पृ ६

अथवा मन की पर्यायो—धर्म—बाह्यवस्तु के चिन्तन करने के प्रकार का विचार करने पर मनोवर्गणायें विशिष्ट आकार रूप मे परिणत होती है, उनका जो ज्ञान है, वह मन पर्यायज्ञान कहलाता है।

केवलज्ञान—केवल अर्थात् एक। अत एक जो ज्ञान वह केवलज्ञान है। एक होने का कारण यह है कि यह ज्ञान मति आदि क्षायोपशमिक ज्ञाननिरपेक्ष है। जैसा कि शास्त्र मे कहा है—'नट्ठमि छाउमत्थिए नाणे'[1] मत्यादि छाद्मस्थिक ज्ञानो के नष्ट होने पर केवलज्ञान होता है। अथवा केवल अर्थात् शुद्ध। अत पूर्ण ज्ञान को आवृत करने वाले कर्ममलरूप कलक का सर्वथा नाश होने से शुद्ध जो ज्ञान है, वह केवलज्ञान है। अथवा केवल अर्थात् सम्पूर्ण। अत केवलज्ञानावरण का सर्वथा क्षय होने से सम्पूर्णरूप मे जो उत्पन्न होता है, वह केवलज्ञान है। अथवा केवल अर्थात् असाधारण। अत उसके सदृश दूसरा ज्ञान न होने से जो असाधारण ज्ञान है, वह केवलज्ञान है। अथवा केवल अर्थात् अनन्त। अनन्त ज्ञेय वस्तुओ को जानने वाला होने से अनन्त जो ज्ञान है, वह केवलज्ञान है।[2]

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ५३९

२ (क) शुद्ध वा केवलम, तदावरणमलकलङ्कविगमात्। सकल वा केवलम्, प्रथमत एवाऽशेषतदावरणविगमत सम्पूर्णोत्पत्ते। असाधारण वा केवल, अनन्यसदृशत्वात्। अनन्त वा केवल, ज्ञेयानन्तत्वात्। केवल च तद्ज्ञान च केवलज्ञानम्।

—पचसग्रह मलयगिरिटीका, पृ ७

(ख) केवलमसहायमद्वितीय ज्ञान केवलज्ञानमिति।

—पचसग्रह स्वोपज्ञवृत्ति, पृ ६

(ग) सपुण्ण तु समग्ग केवलमसवत्त सव्वभावगय।
लोयालोयवितिमिर केवलणाण मुणेदव्व॥

—गोम्मटसार जीवकाड, गाथा ४६०

सारांश यह कि जो ज्ञान केवल, असहाय और अद्वितीय हो, उसे केवलज्ञान कहते है।

ये पाच ज्ञान और तीन अज्ञान, साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) के आठ भेद हैं।

दर्शनोपयोग के भेदों के लक्षण

साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) के आठ भेदो के लक्षणो का निर्देश करने के पश्चात् अब दर्शनोपयोग (अनाकारोपयोग) के भेद और उनके लक्षण बताते है।

दर्शनोपयोग के चार भेद है—१ अचक्षुदर्शन २. चक्षुदर्शन ३ अवधिदर्शन ४ केवलदर्शन।[1]

नाम, जाति, लिंग आदि विशेषो की विवक्षा किये बिना पदार्थ का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे दर्शन कहते है।[2]

अत. चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रियो और मन से अपने-अपने विषय का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे अचक्षुदर्शन कहते है और चक्षुइन्द्रिय के द्वारा अपने विषयभूत पदार्थ का जो सामान्य ज्ञान हो, वह चक्षुदर्शन है।[3]

---

१ चक्खु अचक्खू ओही दसणमधकेवल णेय। —द्रव्यसग्रह, गाथा ४

२ (क) ज सामण्ण गहण भावाण णेव कट्टुमायार।
अविसेसिऊण अट्ठे दसणमिदि भण्णदे समए॥ —दि पचसग्रह १/१३८

(ख) भावाण सामण्णविसेसयाण सरूवमेत्त ज।
वण्णणहीणग्गहण जीवेण य दसण होदि॥

—गोम्मटसार जीवकाड, गाथा ४८२

३ (क) चक्खूण ज पयासइ दीसइ त चक्खुदसण वेति।
सेसिदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खू त्ति॥

—गोम्मटसार जीवकाड, ४८३

(क्रमश:)

पाच इन्द्रियो और मन की सहायता के विना मर्यादा मे रहे हुए रूपी पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान अर्थात् उनके सामान्य अश का ग्रहण हो, वह अवधिदर्शन है।[1]

लोक तथा अलोक मे रहे हुए समस्त रूपी-अरूपी पदार्थों का जो सामान्य बोध, वह केवलदर्शन कहलाता है।[2]

दर्शनोपयोग के उक्त चार भेदो मे से अचक्षु, चक्षु और अवधि दर्शन का अतरग कारण अपने-अपने दर्शनावरणकर्म का क्षयोपशम और केवलदर्शन का कारण केवलदर्शनावरण कर्म का क्षय है।

दर्शनोपयोग के अचक्षुदर्शन आदि चाद भेद मानने पर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है—

प्रश्न—इन्द्रिय और मन द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्यबोध को सक्षेप मे इन्द्रियदर्शन कहकर अवधि तथा केवल दर्शन, इस प्रकार दर्शनरूप अनाकारोपयोग के तीन भेद कहना युक्तिसगत है। यदि विस्तार से ही भेद बतलाना इष्ट है तो स्पर्शन आदि पाच इन्द्रियो और मन द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्यबोध को १ स्पर्शनेन्द्रिय-दर्शन, २ रसनेन्द्रियदर्शन, ३ घ्राणेन्द्रियदर्शन, ४ चक्षुरिन्द्रियदर्शन ५ श्रोत्रन्द्रियदर्शन और ६ मनोदर्शन कहकर अवधि और केवल दर्शन सहित दर्शनोपयोग के आठ भेद बताना चाहिये। फिर दर्शनोपयोग के चार भेद ही क्यो बतलाये हैं ?

उत्तर—लोकव्यवहार मे चक्षु की प्रधानता होने से उसके द्वारा

(ख) तत्र अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शन स्वस्वविषये सामान्यग्रहण अचक्षुर्दर्शनम्। चक्षुपादर्शन रूप सामान्यग्रहण चक्षुर्दर्शनम्।

—पचसग्रह मलयगिरिटीका, पृ ७

१　रूपिसामान्यग्रहणमवधिदर्शनम्।　　—पचसग्रह मलयगिरिटीका, पृ ७

२　सकलजगद्भाविवस्तुसामान्यपरिच्छेदरूप दर्शन केवलदर्शन।

—पचसग्रह मलयगिरिटीका, पृ ७

होने वाले सामान्यबोध को चक्षुदर्शन कहकर शेष इन्द्रियो तथा मन द्वारा होने वाले सामान्यबोध का विस्तार न करके लाघव के लिये पृथक्-पृथक् दर्शन न बताकर अचक्षुदर्शन मे उनका समावेश कर लिया गया है। जिससे दर्शनोपयोग के चार भेद ही मानना युक्ति-सगत है।

एतद्विषयक विशेष विवेचन प्रथम कर्मग्रन्थ गाथा १० के टवा मे किया गया है।

इस प्रकार दर्शनोपयोग के चार भेद और उनके लक्षण जानना चाहिये।[1]

उपयोगो का क्रमविन्यास

साकारोपयोग के पश्चात् अनाकारोपयोग का क्रमविधान प्रधाना-

---

१ चक्षुदर्शन आदि केवलदर्शन पर्यन्त दर्शन के चार भेद प्रसिद्ध हैं। मन-पर्यायदर्शन नही मानने का कारण यह है कि मनपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की तरह स्वमुखेन विषयो को नही जानता है किन्तु परकीय मनप्रणाली से जानता है। यद्यपि मन अतीत व अनागत अर्थों का विचार चिन्तन तो करता है लेकिन देखता नही। इसी तरह मनपर्यायज्ञानी भी भूत और भविष्यत् को जानता तो है किन्तु देखता नही। वह वर्तमान भी मन को विषय-विशेषाकार से जानता है, अत सामान्यावलोकनपूर्वक प्रवृत्ति न होने से मनपर्यायदर्शन नही माना जाता है। परन्तु किन्ही-किन्ही आचार्यों ने मनपर्यायदर्शन को भी स्वीकार किया है—'केचित्तु मन्यन्ते प्रज्ञापनाया मनपर्यायज्ञाने दर्शनतापठ्यते' (तत्त्वार्थभाष्य १/२४ की टीका)

यही दृष्टि श्रुतदर्शन न मानने के लिये भी समझना चाहिये। क्योकि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तथा श्रुतज्ञान का व्यापार बाह्य पदार्थ है अंतरग नही जबकि दर्शन का विषय अंतरग पदार्थ है। इसलिये श्रुतज्ञान के पहले दर्शन नही होने से श्रुतदर्शन को पृथक् से मानने की आवश्यकता नही रहती है।

प्रधान की विवक्षा से किया गया है। अर्थात् प्रधान होने से पहले साकारोपयोग का और उसके बाद अप्रधानता के कारण अनाकारोपयोग का क्रम उपन्यास किया है[1] तथा साकारोपयोग के आठ भेदो मे प्रथम अज्ञान के भेदो का निर्देश यह बताने के लिए किया है कि सभी जीवो को मिथ्यात्व का सद्भाव रहने से, पहले अज्ञान होता है और उसके बाद सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह ज्ञान कहलाता है।[2] दर्शनोपयोग के भेदो मे अचक्षुदर्शन का प्रथम प्रतिविधान करने का कारण यह है कि वह सभी जीवो मे सामान्यरूप से पाया जाता है और उसके पश्चात् तदावरण कर्मों का क्षय-क्षयोपशम होने पर चक्षुदर्शन आदि दर्शनोपयोगो की प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार से सक्षेप मे उपयोग के भेदो का स्वरूप समझना चाहिये।

जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान के लक्षण

योग और उपयोग के भेदो का निरूपण करने के पश्चात् अब योगोपयोगमार्गणा के विवेचन की रूपरेखा के अनुसार जीवस्थानो, मार्गणास्थानो और गुणस्थानो मे इनका प्रतिविधान करना सगत है। लेकिन इसके पूर्व जीवस्थान आदि तीनो का स्वरूप समझना आवश्यक होने से सक्षेप मे उनके लक्षण बतलाते हैं। जो इस प्रकार है—

जीवस्थान—जो जीता है, जीता था और जीयेगा, इस प्रकार के त्रैकालिक जीवनगुण वाले को जीव कहते है।[3]

---

१ प्रधानत्वात् साकारोपयोग प्रथममुक्त, तदनन्तरमनाकारोपयोगोऽप्रधानत्वाद्।
—पचसग्रह स्वोपज्ञवृत्ति, पृ ६

२ अज्ञानानि पूर्वं भवन्ति पश्चाद् ज्ञानानीत्यनेककारणेन पूर्वमज्ञानानामुपन्यास पश्चात् ज्ञानाना।
—पचसग्रह स्वोपज्ञवृत्ति, पृ ६

३ त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् 'जीवति, अजीवीत् जीविष्यति' इति वा जीव।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक १/४

जीव को जीवित रहने के आधार है—द्रव्यप्राण और भावप्राण। इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास, ये द्रव्यप्राण[1] और ज्ञान, दर्शन, चैतन्य आदि भावप्राण कहलाते है। अत जीव का लक्षण यह हुआ कि जो द्रव्य और भाव प्राणो से जीवित है, जीवित था और जीवित रहेगा, वह जीव है।[2]

जीव अनन्त है और जीवत्व की अपेक्षा सभी जीवो का स्वरूप एक जैसा है। लेकिन जीवो के दो प्रकार है—ससारी और मुक्त। जन्म-मरणरूप ससार मे परिभ्रमण करने वाले कर्मबद्ध जीव ससारी और नि शेषरूप से कर्मावरण का क्षय करके आत्मस्वरूप मे अवस्थित जीव मुक्त कहलाते है। इस प्रकार कर्मसहित और कर्मरहित अवस्था की दृष्टि से जीवो के ये भेद हैं।

ससारी जीव भी अनन्त है और मुक्त जीव भी अनन्त हैं। इन दोनो प्रकार के जीवों मे चैतन्यरूप भावप्राण तो समान रूप से रहते है। लेकिन ससारी जीव ज्ञान, दर्शन आदि भावप्राणो के साथ यथायोग्य इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणो सहित है और मुक्त जीवो मे सिर्फ ज्ञान, दर्शन आदि गुणात्मक भावप्राण होते है। जब तक इन्द्रिय आदि कर्मजन्य द्रव्यप्राण हैं और जीव कर्मबद्ध है, तब तक वे यथायोग्य इन्द्रियो आदि से युक्त है और कर्ममुक्त हो जाने पर उनमे सिर्फ ज्ञान, दर्शन आदि रूप चैतन्यपरिणाम—भावप्राण रहते है।

---

१ स्पर्शन, रसन आदि पाच इन्द्रिय, मन, वचन और काय ये तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु, कुल मिलाकर दस द्रव्यप्राण होते है—

पच वि इदियपाणा मणवचिकायेसु तिण्णि बलपाणा।
आणापाणप्पाणा आउगपाणेण होति दस पाणा॥

—गोम्मटसार जीवकाड, गाथा १२९

२ तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥

—द्रव्यसग्रह, गाथा ३

मुक्त जीवो के निष्कर्म होने से उनमे किसी प्रकार का भेद नही है। सभी स्वभाव से परिपूर्ण और ममान है, किन्तु ससारी जीवो के कर्म-सहित होने से उनमे गति, जाति, शरीर आदि-आदि की अपेक्षाओ से अनेक प्रकार की विभिन्नतायें, विविधताये और विचित्रतायें दिखाई देती हैं। ये कर्मजन्य अवस्थायें अनन्त है, जिनका एक-एक जीव की अपेक्षा ज्ञान करना छद्मस्थ व्यक्ति के लिए सहज नही है, किन्तु जीवस्थान द्वारा उनका स्पष्टरूप से बोध होता है।

सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवन्तो ने समस्त संसारी जीवो का एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति आदि के रूप मे विभागानुसार वर्गीकरण करके चौदह वर्ग बताये हैं। उनमे सभी ससारी जीवो का समावेश हो जाता है।

ससारी जीवो के इन वर्गों अर्थात् सूक्ष्म, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि रूप मे होने वाले प्रकारो—भेदो को जीवस्थान कहते हैं।

कर्मसाहित्य मे प्रयुक्त जीवस्थान शब्द के लिये आगमो मे 'भूतग्राम'[1] और दिगम्बर ग्रन्थो मे 'जीवसमास'[2] शब्द का प्रयोग किया है। लेकिन शब्दप्रयोग के सिवाय अर्थ और भेदो में अन्तर नही है।

मार्गणास्थान—मार्गणा का अर्थ है गवेषणा, मीमासा, विचारणा,

---

१ समवायाग १४/१

२ जेहि अणेया जीवा णज्जते वहुविहा वि तज्जादी।
ते पुण सगहिदत्था जीवसमासा त्ति विण्णेया ॥

—गोम्मटसार जीवकाड, गाथा ७०

—दि पचसग्रह, १/३२

—जिन धर्मविशेषो के द्वारा नाना जीव और उनकी नाना प्रकार की जातियां जानी जाती हैं, उन पदार्थों का सग्रह करने वाले धर्मविशेषो को जीवसमास जानना चाहिये।

अनुसन्धान आदि। ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमासा, ये एकार्थवाचक नाम है। मार्गणा के स्थानो को मार्गणास्थान कहते है। अर्थात् जिस प्रकार से प्रवचन मे देखे गये है, उसी प्रकार से जीवादि पदार्थों का जिन भावो के द्वारा अथवा जिन पर्यायो मे विचार किया जाये, उन्हे मार्गणा कहते है।[1] मार्गणाओ मे जीवो की बाह्य गति, इन्द्रिय, शरीर आदि की विचारणा के साथ उनके आन्तरिक भावो, गुणस्थानो योग, उपयोग, जीवस्थानो आदि का विचार किया जाता है।

गुणस्थान—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जीव के स्वभाव को गुण और उनके स्थान अर्थात् शुद्धि-अशुद्धि कृत गुणो के स्वरूपविशेष को गुणस्थान कहते है। अथवा दर्शनमोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम आदि अवस्थाओ के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावो से जीव लक्षित होते है, उन भावो को गुणस्थान कहते है।

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान यद्यपि ये तीनो ससारी जीवो की अवस्थाओ के दर्शक है, तथापि इनमे यह अन्तर है कि—

जीवस्थान जातिनामकर्म और पर्याप्त-अपर्याप्तनामकर्म के औदयिकभाव है।

मार्गणास्थान नामकर्म, मोहनीयकर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय कर्म के औदयिक आदि भावरूप तथा पारिणामिक भावरूप है।

गुणस्थान मात्र मोहनीयकर्म के औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भाव रूप तथा योग के भावाभाव रूप है।

---

१ (क) जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति॥
—गोम्मटसार, जीवकाड, गाथा १४०

(ख) गोम्मटसार जीवकाड, गाथा ३ मे 'विस्तार' और 'आदेश' ये दो शब्द मार्गणा के नामान्तर कहे है।

मार्गणास्थान सहभावी और गुणस्थान क्रमभावी है। गुणस्थान एक के पश्चात् दूसरा होता है। एक का दूसरे से सम्बन्ध नही है। लेकिन गुणस्थानो का क्रम बदलने पर भी मार्गणा के चौदह भेदो मे से कुछ एक मार्गणाओ को छोडकर प्राय सभी मार्गणायें एक जीव मे एक साथ पाई जा सकती है।

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान के चौदह चौदह भेद होते है। जिनके नाम और उनके लक्षण यथास्थान आगे कहे जायेंगे।

जीवस्थानो मे योगप्ररूपणा

अब ग्रन्थकार आचार्य क्रमनिर्देशानुसार पहले जीवस्थानो मे योगो का निरूपण करते है—

विगलासन्नीपज्जत्तएसु लब्भति कायवइयोगा।
सव्वेवि सन्निपज्जत्तएस सेसेसु काओगो ॥६॥

शब्दार्थ—**विगलासन्नीपज्जत्तएसु**—विकलेन्द्रिय और असज्ञी पर्याप्तको मे, **लब्भति**—प्राप्त होते हैं, **कायवइयोगा**—काय और वचन योग, **सव्वेवि**—सभी, **सन्निपज्जत्तएसु**—सज्ञी पर्याप्तको मे, **सेसेसु**—शेप मे, **काओगो**—काययोग।

गाथार्थ—पर्याप्त विकलेन्द्रियो और असज्ञी पचेन्द्रियो मे काय और वचन योग तथा सज्ञी पर्याप्तको मे सभी योग होते हैं और शेष जीवस्थानो मे काययोग ही होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे सामान्य से जीवस्थानो मे योगो का निर्देश किया है।

यद्यपि ग्रन्थकार आचार्य ने स्वय जीवस्थानो की सख्या और नामो का निर्देश आगे किया है[1] लेकिन विशेष उपयोगी और आवश्यक होने से यहाँ उनकी सख्या और नाम बतलाते है।

समस्त ससारी जीवो के अधिक-से-अधिक चौदह वर्ग हो सकते है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

---

१ बधकद्वार, गाथा ८२

१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, २ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, ३ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ४ बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, ५ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, ६ द्वीन्द्रिय पर्याप्त, ७ त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, ८ त्रीन्द्रिय पर्याप्त ९ चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, १० चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, ११ असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त, १२ असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त, १३ सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त, १४ सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त।[१]

इन वर्गों की ऐसी विशेषता है कि ससारी जीवो के अनन्त होने पर भी इन चौदह वर्गों मे से किसी-न-किसी वर्ग मे उनका समावेश हो जाता है।

जीवस्थान के भेदो का आधार

प्राप्त इन्द्रियो की मुख्यता से उक्त चौदह भेद बताये गये है। इन्द्रियापेक्षा ससारी जीवो की पाच जातियाँ (प्रकार) हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। जाति का अर्थ है तद्भव-सादृश्य लक्षणवाला सामान्य।[२] अर्थात जिस शब्द के बोलने या सुनने से सभी समान गुणधर्म वाले पदार्थों का ग्रहण हो जाये, उसे जाति कहते है। जैसे—मनुष्य गाय, भैस आदि बोलने और सुनने से सभी प्रकार के मनुष्यो, गायो, भैंसो आदि का ग्रहण हो जाता है, उसी प्रकार एकेन्द्रिय जाति द्वीन्द्रिय जाति आदि कहने से एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रिय वाले आदि सभी जीवो का ग्रहण हो जाता है। जीवो मे इस प्रकार के अव्यभिचारी सादृश्य से एकपने का बोध कराने का कारण जाति-नामकर्म है।

---

१ (क) द्रव्यसग्रह गाथा ११, १२ (ख) समवायाग, १४/१

(ग) गोम्मटसार जीवकाड, गाथा ७२

दि पचसग्रह मे अपेक्षाभेद से जीवस्थानो के चौदह के अतिरिक्त इक्कीस, तीस, बत्तीस, छत्तीस, अडतीस, अडतालीस, चउवन और सत्तावन भेद भी बतलाये हैं, जिनका विवरण परिशिष्ट मे देखिये।

२ तत्थ जाइ तब्भवसारिच्छलक्खण-सामण्ण।

—धवला १/१, १, १/१७/५

अपने-अपने विषय के ज्ञान और सेवन (ग्रहण) करने मे जो स्वतत्र है, उसे इन्द्रिय कहते है।[1] जैसे नेत्र रूप का ज्ञान करने मे स्वतत्र है, किन्तु अन्य इन्द्रियाँ रूप को ग्रहण नही कर सकती हैं। जो जिस इन्द्रिय का विषय होना है, वह उसी के द्वारा ग्रहण किया जाता है। यही इन्द्रियो की स्वतत्रता का अर्थ है।

इन्द्रियो के पाच भेद है[2]—१ स्पर्शन, २ रसन, ३ घ्राण, ४ चक्षु और ५ श्रोत्र।[3] ये पाँचो इन्द्रियाँ भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की है [4] द्रव्येन्द्रियाँ पौद्‌गलिक होने से जड और भावेन्द्रियाँ चेतनाशक्ति की पर्याय होने से भावरूप हैं। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मविशुद्धि अथवा उस विशुद्धि से उत्पन्न होने वाले उपयोगात्मक ज्ञान को भावेन्द्रिय कहते है।[5] द्रव्येन्द्रियाँ शरीर, अंगोपाग और निर्माण नामकर्म से निर्मित होती है।

इन दोनो द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के दो-दो भेद हैं। निर्वृत्ति और उपकरण ये द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं। इन्द्रियो की आकार-रचना को निर्वृत्ति कहते है और यह भी बाह्य और अतरग के भेद से दो प्रकार

---

१ स्वेषा विषय स्वविषयस्तत्र निश्चयेन निर्णयेन रतानीन्द्रियाणि।

—धवला १/१, १, ४/१३५

२ (क) गोयमा! पचइन्दिया पण्णत्ता। —प्रज्ञापना १५/१/१६१

(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/१५

३ (क) प्रज्ञापना इन्द्रियपद १५

(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/२०

४ (क) गोयमा! दुविहा पण्णत्ता। त जहा—दव्विदिया य भाविंदिया य।

—प्रज्ञापना १५/१

(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/१६

५ मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जबोहो वा।
भाविंदिय तु दव्व देहुदयजदेहचिण्ह तु।

—गोम्मटसार जीवकाड, गाथा १६४

की हैं। इन्द्रियो की बाह्य आकार-रचना को बाह्य निर्वृत्ति और आन्तरिक आकार-रचना को आभ्यतर निर्वृत्ति कहते है। आभ्यतर निर्वृत्ति की विषय ग्रहण करने की शक्ति को उपकरणन्द्रिय कहते हैं। उपकरणेन्द्रिय निर्वृत्ति का उपकार करती है, इसलिए इसके भी आभ्यंतर और बाह्य, ये दो भेद हो जाते हैं। जैसे कि नेत्र इन्द्रिय मे कृष्ण-शुक्ल मण्डल आभ्यतर उपकरण है तथा पलक, बरौनी आदि बाह्य उपकरण।

भावेन्द्रिय के लब्धि और उपयोग यह दो भेद होते हैं।[1] मतिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम—चेतनाशक्ति की योग्यताविशेष को लब्धि-रूप तथा लब्धिरूप भावेन्द्रिय के अनुसार आत्मा की विषय-ग्रहण मे होने वाली प्रवृत्ति को उपयोगरूप भावेन्द्रिय कहते है।

जीवो के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि पांच भेद मानने का कारण द्रव्येन्द्रियाँ है। बाहर मे प्रगट रूप से जितनी-जितनी इन्द्रियाँ दिख-लाई देती है, उनके आधार पर ये एकेन्द्रिय आदि भेद किये जाते हैं। जैसे कि एकेन्द्रिय जीवो मे सिर्फ पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है। इसीलिए उनको एकेन्द्रिय जीव कहते हैं और द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवो मे स्पर्शनेन्द्रिय के अनतर क्रमश रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र मे से उत्तरोत्तर एक-एक इन्द्रिय बढती जाती है। लेकिन सभी ससारी जीवो मे भावेन्द्रियाँ पाचो होती है।

एकेन्द्रिय जीवो के पाच प्रकार हैं—१. पृथ्वीकाय, २. अप्काय, ३ तेउकाय, ४ वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय।[2] इनके मात्र एक स्पर्शनेन्द्रिय होने से ये स्थावर कहलाते है और द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के

---

१ (क) प्रज्ञापना २/१५
(ख) लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। —तत्त्वार्थसूत्र २/१८

२ (क) स्थानाग ५/३९३
(ख) पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय स्थावरा। —तत्त्वार्थसूत्र २/१३

जीव त्रस कहलाते हैं।[1] पृथ्वीकाय आदि पाचो प्रकार के स्थावर—एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। किन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो मे सूक्ष्म या बादर कृत भेद नही है। वे सभी बादर ही होते हैं। पचेन्द्रिय जीवो मे कोई-कोई जीव मनसहित और कोई-कोई मनरहित होते है। जो पचेन्द्रिय जीव मन-सहित है उन्हे संज्ञी—समनस्क और मनरहित पचेन्द्रिय जीवो को असज्ञी—अमनस्क कहते है।

एकेन्द्रियो के सूक्ष्म, बादर भेद का कारण

एकेन्द्रियो के सूक्ष्म और बादर, यह दो भेद मानने का कारण यह है कि सूक्ष्म शरीर वाले एकेन्द्रिय जीव आँखो से तो नही देखे जा सकते हैं लेकिन इनका अस्तित्व ज्ञानगम्य है और बादर शरीर वाले एकेन्द्रिय जीव ज्ञानगम्य होने के साथ-साथ आँखो से भी दिखाई देते है। सूक्ष्म और बादर शरीर की प्राप्ति सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय से होती है। सूक्ष्म नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर स्वय न किसी से रुकता है और न किसी को रोकता है। अर्थात् यह व्याघात से रहित है तथा अन्य जीवो के अनुग्रह या उपघात के अयोग्य होता है और यह प्रत्यक्षसिद्ध भी है। जैसे सूक्ष्म होने से अग्नि लोहे के गोले मे प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार सूक्ष्मनामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर भी लोक के किसी भी प्रदेश मे प्रविष्ट हो सकता है।

अन्य को बाधा पहुँचाने वाले शरीर का निवर्तक बादरनामकर्म है। आँखो से दिखलाई देना, आँखो से देखा जा सके, चक्षु इन्द्रिय का विषय हो—यही बादर का अर्थ नही है। क्योकि एक-एक बादरकाय वाले पृथ्वीकाय आदि का शरीर प्राप्त होने पर भी वह देखा नही जा सकता है। परन्तु बादरनामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवो मे एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न करता है, जिससे उनके शरीर

---

१ (क) ससारसमावन्नगा तसे चेव थावरे चेव।　—स्थानाग २/५७
(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/१२

समुदाय मे एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट हो जाती है और उससे वे दृष्टिगोचर होते है । बादरनामकर्म के कारण ही बादर जीवो का मूर्त्त द्रव्यो के साथ घात-प्रतिघात आदि होता है ।

बादर और सूक्ष्म का यह विचार अल्पाधिक अवगाहना या प्रदेशो की अपेक्षा नही समझना चाहिए । क्योकि सूक्ष्म शरीर से भी असख्यात-गुणहीन अवगाहना वाले और वादरनामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए बादर शरीर की उपलब्धि होती है तथा तैजस और कार्मण शरीर, अनत प्रदेशी है, किन्तु सघन और सूक्ष्म परिणमन वाले होने से इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य नही होते है ।

सूक्ष्म और बादर, ये दोनो जीवविपाकिनी प्रकृतियाँ है, लेकिन इनकी अभिव्यक्ति शरीर के पुद्‌गलो के माध्यम से होती है । जिसका विशेष स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा ।

साराश यह है कि बादरनामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवो मे एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न कर देता है । जिससे उनके शरीर मे एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट हो जाती है और वे दृष्टिगोचर हो जाते हैं । घात-प्रतिघात आदि होने लगता है । जबकि सूक्ष्मनाम-कर्म पृथ्वीकाय आदि जीवो मे इस प्रकार का सूक्ष्म परिणाम उत्पन्न करता है कि वे अनन्त शरीर एकत्रित हो जाने पर भी दृष्टिगोचर नही हो पाते है और व्याघातरहित है । कर्मशक्ति की विचित्रता का यह परिणाम है ।

पंचेन्द्रियो में सज्ञी, असज्ञी भेद मानने का कारण

ससार मे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति के रूप मे विद्यमान समस्त जीवो मे से तिर्यंचगति के जीवो के अतिरिक्त शेष नारक, मनुष्य और देव पचेन्द्रिय ही होते हैं । उन्हे स्पर्शन आदि श्रोत्र पर्यन्त पाचो इन्द्रियाँ होती हैं । लेकिन तिर्यंच जीवो मे किन्ही को एक, किन्ही को दो, तीन, चार या पाच इन्द्रियाँ होती है । एकेन्द्रिय से लेकर चतुरि-न्द्रिय तक के जीवो मे मन नही होने से असज्ञी और पचेन्द्रिय वाले

पाई जाती है। चौथी ज्ञानसंज्ञा दृष्टिवादोपदेशिकी है। इसमे विशिष्ट श्रुतज्ञान विवक्षित है।[1]

उक्त चारो विभागो में से संज्ञी-व्यवहार की कारण दीर्घकालोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी, यह दो ज्ञानसंज्ञायें हैं और ओघ तथा हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा वाले जीव असंज्ञी है।[2]

इस प्रकार एकेन्द्रिय के सूक्ष्म और बादर तथा पंचेन्द्रिय के संज्ञी और असंज्ञी भेदो को लेकर एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवो के सात प्रकार हो जाते हैं। ये सातो प्रत्येक अपर्याप्त और पर्याप्त भी होते हैं।

अब इनके पर्याप्त और अपर्याप्त मानने के कारण को स्पष्ट करते हैं।

पर्याप्त और अपर्याप्त की व्याख्या

पर्याप्तनामकर्म के उदय वाले जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्तनामकर्म के उदय वाले जीवो को अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्तनामकर्म के उदय से पर्याप्तियों को रचना होती है और अपर्याप्तनामकर्म का उदय होने पर उनकी रचना नही होती है।

पर्याप्ति नाम शक्ति का है। अत आहारादि पुद्गलो के ग्रहण और परिणमन में कारणभूत आत्मा की शक्तिविशेष को पर्याप्ति कहते हैं। यह शक्ति पुद्गलो के उपचय से प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि उत्पत्तिस्थान में आये हुए जीवो ने जो पुद्गल ग्रहण किये हैं और प्रति समय दूसरे भी पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं, अथवा जो पुद्गल पहले ग्रहण किये हुए पुद्गलो के सम्बन्ध में उस रूप मे परिणत होते

---

१ इन हेतुवादोपदेशिकी, दीर्घकालिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञाओ का विचार दिगम्बर ग्रंथों मे दृष्टिगोचर नहीं होता है।

२ विशेषावश्यकभाष्यगत संज्ञी-असंज्ञी-सम्बन्धी विवेचन परिशिष्ट मे देखिए।

जाते है उन पुद्‌गलो को खल रसादि रूप मे परिणत करने की कारण-भूत शक्तिविशेष पर्याप्ति कहलाती है। जैसे कि पेट के अन्दर रहे हुए पुद्‌गलविशेषो की आहार के पुद्‌गलो को खल-रसादि रूप मे परिणत करने की शक्तिविशेष होती है।

गृहीत पुद्‌गलो का कार्य भिन्न-भिन्न होता है। अत इस कार्यभेद से पर्याप्ति के निम्नलिखित छह भेद हो जाते हैं—

१ आहारपर्याप्ति, २ शरीरपर्याप्ति, ३ इन्द्रियपर्याप्ति, ४ प्राणापानपर्याप्ति, ५ भाषापर्याप्ति और ६ मन पर्याप्ति।[1]

१ जिस शक्ति के द्वारा बाह्य आहार को ग्रहण करके खल—विष्टा, मूत्र और रस—सार पदार्थ के रूप मे परिणत किया जाये, उसे 'आहारपर्याप्ति' कहते है।

२ जिस शक्ति के द्वारा रसरूप आहार को रस, रक्त, मास, चर्बी, हड्डी, मज्जा और वीर्य, इन सात धातुरूप परिणत किया जाये वह शरीरपर्याप्ति' है।

३ जिस शक्ति के द्वारा धातुरूप परिणाम को प्राप्त आहार इन्द्रियरूप परिणत हो, उसे 'इन्द्रियपर्याप्ति' कहते है।

४ जिस शक्ति के द्वारा उच्छ्वासयोग्य वर्गणाओ मे से पुद्‌गल-दलिको को ग्रहण करके उच्छ्वास मे परिणत कर और उनका अवलबन लेकर छोडा जाये, वह 'प्राणापानपर्याप्ति' है।

५ जिस शक्ति के द्वारा भाषायोग्य वर्गणाओ मे से दलिको को ग्रहण करके भाषारूप परिणत कर और उनका अवलम्बन लेकर पुन छोडना 'भाषापर्याप्ति' है।

६ जिस शक्ति के द्वारा मनोयोग्य वर्गणाओ के दलिको को ग्रहण

---

१ आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाण-भास-मणो।

—गोम्मटसार जीवकाड, गाथा ११८

कर मन रूप मे परिणत करके उनका अवलम्बन लकर छोडना 'मनः-पर्याप्ति' है।[1]

पर्याप्तियो के इन छह भेदा मे से एकेन्द्रिय के आदि की चार, विकलत्रिक औ असज्ञी पचेन्द्रिय मे आदि की पाच और सज्ञी पचेन्द्रिय में छहो पर्याप्तियाँ होती हैं।[2]

यद्यपि उत्पत्ति के प्रथम समय से ही सभी जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियो को युगपत् प्रारम्भ करते है, लेकिन पूर्ण अनुक्रम से करते हैं।[3] सर्वप्रथम पहली आहारपर्याप्ति पूर्ण करते है, उसके वाद शरीरपर्याप्ति, तत्पश्चात् इन्द्रियपर्याप्ति, इस प्रकार अनुक्रम से चौथी, पांचवी और छठा पर्याप्ति पूर्ण करते हे। आहारपर्याप्ति तो उत्पत्ति के प्रथम समय मे पूर्ण होती है और शेप पर्याप्तियाँ अनुक्रम से अन्त-र्मुहूर्त काल मे पूण होती हैं। किन्तु सभी पर्याप्तियो को पूर्ण करने का काल अन्तर्मुहूर्त है।

यद्यपि आगे-आगे पर्याप्ति के पूर्ण होने मे पूर्व-पूर्व की अपेक्षा कुछ अधिक-अधिक काल लगता है, तथापि वह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है।

---

१ प्रज्ञापनासूत्रटीका और तत्त्वार्थभाष्यगत पर्याप्तिसम्बन्धी व्याख्या का साराश परिशिष्ट मे देखिये।

२ चत्तारि पच छप्पि य एगिंदिय विगल सनीण ॥

—बृहत्सग्रहणी ३४९

—गोम्मटसार जीवकाड, गाथा ११८

३ (क) पज्जत्तीपट्ठवण जुगव तु कमेण होदि णिट्ठवण।

—गोम्मटसार, जीवकाड, गाथा ११९

(ख) उत्पत्तिप्रथमसमय एव जैना यथायथ सर्वा अपि युगपन्निष्पादयितु-मारभ्यन्ते, क्रमेण च निष्ठामुपयान्ति।

—पचसग्रह, मलयगिरिटीका, पृ ८

क्योकि असख्यात के असख्यात भेद होने से असख्यात समयप्रमाण अन्तमुंहूर्त के भी असख्यात भेद होते है ।[1]

उत्पत्ति के प्रथम समय मे आहारपर्याप्ति के पूर्ण होने के बारे मे जिज्ञासु का प्रश्न है कि—

प्रश्न—यह कैसे जाना जाये कि आहारपर्याप्ति उत्पत्ति के प्रथम समय मे ही पूर्ण होती है ?

उत्तर—आहारपर्याप्ति को उत्पत्ति के प्रथम समय मे पूर्ण होने के कारण को स्पष्ट करते हुए प्रज्ञापनासूत्र मे बताया है कि -

'आहारपज्जत्तिए अपज्जत्ते ण भते ! किमाहारए अणाहारए ?'

हे भगवन् ! आहारपर्याप्ति द्वारा अपर्याप्त क्या आहारी होता है या अनाहारी होता है ?

इसके उत्तर मे श्रमण भगवान् महावीर ने गौतमस्वामी को बताया—

'गोयमा ! नो आहारए अणाहारए !'

हे गौतम ! आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त जीव आहारी नही होते हैं, परन्तु अनाहारी होते हैं ।

इसलिए आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त विग्रहगति मे ही सम्भव

---

१ औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर मे पर्याप्तियां होती हैं । औदारिक शरीर वाला जीव पहली पर्याप्ति एक समय मे पूर्ण करता है और उसके बाद अन्तमुंहूर्त मे दूसरी और उसके बाद तीसरी, इस प्रकार चौथी, पाचवी, छठी, प्रत्येक क्रमश अन्तमुंहूर्त-अन्तमुंहूर्त के बाद पूर्ण करता है ।

वैक्रिय, आहारक शरीर वाले जीव पहली पर्याप्ति एक समय मे पूरी कर लेते है और उसके बाद अन्तमुंहूर्त मे दूसरी पर्याप्ति पूर्ण करते हैं और उसके बाद तीसरी, चौथी, पाचवी और छठी पर्याप्ति क्रमश एक-एक समय मे पूरी करते हैं । किन्तु देव पाचवी और छठी, इन दोनो पर्याप्तियो को अनुक्रम से पूर्ण न कर एक साथ एक समय मे ही पूरी कर लेते है ।

है। उत्पत्तिस्थान को प्राप्त हुआ जीव आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त सम्भव नहीं है। क्योंकि उत्पत्तिस्थान को प्राप्त जीव प्रथम समय में ही आहार करता है। इससे स्पष्ट है कि आहारपर्याप्ति की पूर्णता उत्पत्ति के प्रथम समय में ही होती है।

यदि उत्पत्तिस्थान को प्राप्त हुआ जीव आहारपर्याप्ति द्वारा अपर्याप्त होता तो उक्त सूत्र को इस प्रकार कहना चाहिए था कि 'सिय आहारए सिय अणाहारए'—आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त आहारी भी होता है और अनाहारी भी होता है। जैसा कि शरीर आदि पर्याप्तियों के सम्बन्ध में कहा है—'सिय आहारए सिय अणाहारए—कदाचित् आहारी भी होता है और कदाचित् अनाहारी भी होता है।'

सारांश यह है कि आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त जीव विग्रहगति में अनाहारी होता है और उत्पत्तिस्थान में आकर आहार करता है, तब आहारी होता है, ऐसा तभी कहा जा सकता है कि जिस समय उत्पत्तिस्थान में आकर उत्पन्न होता है और उस समय यदि आहारपर्याप्ति पूर्ण न हो। परन्तु उसी समय आहारपर्याप्ति पूर्ण होती है। इसलिए आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त तो विग्रहगति में ही होता है और उस समय अनाहारी होता है। इसी से ही आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त का अनाहारित्व विग्रहगति में ही सम्भव है और शरीरादि पर्याप्ति से अपर्याप्त विग्रहगति में अनाहारी होता है और उत्पत्तिस्थान में उत्पन्न होने के बाद जब तक शरीरादि पर्याप्तियाँ पूर्ण न करे, तब तक उस-उस पर्याप्ति से अपर्याप्त आहारी होता है। यानी शरीरादि पर्याप्ति में अपर्याप्त अनाहारी और आहारी, इस तरह दोनों प्रकार का होता है।

जो स्वयोग्य पर्याप्तियों में विकल हैं, अर्थात् पूर्ण नहीं करते हैं, वे अपर्याप्त और स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने वाले जीव पर्याप्त कहलाते हैं। अर्थात् पर्याप्त जीवों में गृहीत पुद्गलों को आहार आदि रूप में परिणत करने की शक्ति होती है और अपर्याप्त जीवों में इस

प्रकार की शक्ति नही होती है। इन दोनो प्रकार के जीवो के भी निम्नप्रकार से दो-दो भेद है—

अपर्याप्त जीव—१ लब्धि-अपर्याप्त और २ करण-अपर्याप्त।[1]

पर्याप्त जीव—१ लब्धिपर्याप्त और २ करणपर्याप्त।

लब्धि-अपर्याप्त जीव वे है जो अपर्याप्त अवस्था मे ही मर जाते हैं, किन्तु स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण नही करते। अर्थात् जो स्वयोग्य पर्याप्तियो को पूर्ण किये बिना ही मर जाते है, वे लब्धि-अपर्याप्त कह-

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य मे करण-अपर्याप्त के बदले निर्वृत्ति-अपर्याप्त शब्द का प्रयोग किया है। उसका लक्षण इस प्रकार है—

पज्जत्तस्स य उदये णियणियपज्जत्तिणिट्ठदो होदि।
जाव सरीरमपुण्ण णिव्वत्ति अपुण्णगो ताव॥

—गोम्मटसार जीवकाड, गाथा १२०

अर्थात् पर्याप्तनामकर्म के उदय से जीव अपनी योग्य पर्याप्तियो स पूर्ण होता है, तथापि जब तक उसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नही होती है, तब तक वह पर्याप्त नही कहलाता है, किन्तु निर्वृत्ति-अपर्याप्त कहलाता है। लेकिन श्वेताम्बर कर्मसाहित्य मे करण शब्द से शरीर, इन्द्रिय आदि-आदि पर्याप्तियाँ, इतना अर्थ किया गया है—

करणानि शरीराक्षादीनि।

—लोकप्रकाश ३/१०

अतएव उक्त मतव्य के अनुसार जिसने शरीरपर्याप्ति पूर्ण की, किन्तु इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नही की, वह भी करण-अपर्याप्त है। इसी प्रकार उत्तर-उत्तर की पर्याप्ति के लिए समझना चाहिये। अर्थात् शरीररूप करण के पूर्ण करने से करण-पर्याप्त, किन्तु इन्द्रियरूप करण के पूर्ण न करने से करण-अपर्याप्त। लेकिन जब जीव स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियो को पूर्ण कर लेता है, तब उसे करण-अपर्याप्त नही, करण-पर्याप्त कहेंगे।

लाते हैं[1] और जिन्होने शरीर और इन्द्रियादि स्वयोग्य पर्याप्तियाँ अभी पूर्ण नही की, किन्तु अवश्य पूर्ण करेंगे, उन्हे करण-अपर्याप्त कहते है।

लब्धि-पर्याप्त जीव वे कहलाते हैं, जिनको पर्याप्तनामकर्म का उदय हो और अभी स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण नही की है, लेकिन पूर्ण अवश्य करेंगे। करण-पर्याप्त उन्हे कहते है, जिन्होने स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं।

उक्त अपर्याप्त और पर्याप्त के दो-दो भेदो मे करण-अपर्याप्त और लब्धि-अपर्याप्त का अर्थ लगभग एक जैसा प्रतीत होता है, जिससे यह शका हो सकती है कि इन दोनो मे क्या अन्तर है ?

उस विषय मे यह समझना चाहिए कि कर्म दो प्रकार के है—१ पर्याप्तनामकर्म और २ अपर्याप्तनामकर्म। जिस कर्म के उदय से स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण होती है, उसे पर्याप्तनामकर्म और जिस कर्म के उदय से स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण न हो, उसे अपर्याप्तनामकर्म कहते है। लब्धि यानी शक्ति के द्वारा पर्याप्त, वे लब्धि-पर्याप्त, वे पर्याप्तनामकर्म के उदय वाले जीव है और शक्ति से अपर्याप्त, वे लब्धि-अपर्याप्त, वे अपर्याप्तनामकर्म के उदय वाले जीव है।

---

१ लब्धि-अपर्याप्त जीव भी करण-अपर्याप्त होते है। क्योकि यह नियम है कि लब्धि-अपर्याप्त भी कम से कम आहार, शरीर और इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तियो को पूर्ण किये बिना नही मरते है और मरण तभी हो सकता है जब आगामी भव का आयुबन्ध हो गया हो और आयुबन्ध तभी होता है जबकि आहार, शरीर और इन्द्रिय यह तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं—

यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिन.। तच्चाहारशरीरेन्द्रिय-पर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति।

के क्रम में जिनको पहली स्पर्शनरूप एक इन्द्रिय होती है, ऐसे पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति काय के जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं। सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर के कारण ये प्रत्येक सूक्ष्म और बादर के भेद से दो-दो प्रकार के हैं तथा ये दो-दो भेद भी पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्म के उदय वाले होने से पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। इनके वर्ग क्रमश १ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, २ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त ३. बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त और ४ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त कहलाते है।

एकेन्द्रिय जीवो के बादर और सूक्ष्म यह दो भेद मानने का कारण यह है कि चाहे कितने भी शरीरो के एकत्रित हो जाने पर भी जो चर्म-चक्षुओ से न दिखे वे सूक्ष्म और जिनके अनेक शरीरो का समूह भी दिख सकता हो, वे बादर कहलाते हैं।

५-६ **द्वीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त**—स्पर्शन और रसनरूप दो इन्द्रियाँ जिनको हो, ऐसे शख, सीप, चन्दनक आदि जीव द्वीन्द्रिय कहलाते ह। ये भी पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं। इन दोनो के वर्गों को क्रमशः द्वीन्द्रिय पर्याप्त और द्वीन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान कहते है।

७-८ **त्रीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त**—स्पशन, रसन और घ्राण (नाक), ये तीन इन्द्रियाँ जिनको हो, ऐसे जू, खटमल, इन्द्रगोप, चीटी, दीमक आदि जीव त्रीन्द्रिय कहलाते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद क्रमश त्रीन्द्रिय पर्याप्त और त्रीन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान कहलाते हैं।

९-१० **चतुरिन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त**—स्पर्शन रसन, घ्राण और चक्षु, ये चार इन्द्रियां जिनको हो, ऐसे भ्रमर, मक्खी, मच्छर आदि जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद क्रमश. चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान हैं।

११-१२ **असज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त**—स्पर्शन आदि श्रोत्र पर्यन्त जिनको पाचो इन्द्रियाँ हो, लेकिन सज्ञा—भूत, भावी और वर्तमान पदार्थों के स्वभाव के विचार करने की योग्यता से विहीन हो

वे जीव असज्ञी पचेन्द्रिय है। ये भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। इनके भेद क्रमश असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त और असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान हैं।

१३-१४ संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त—जिनको पाचो इन्द्रिय और सज्ञा हो, वे सज्ञी पचेन्द्रिय कहलाते है। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद क्रमश सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त और सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान है।

इस प्रकार से जीवस्थानो के भेद बतलाने के पश्चात अब उनमे योगो का निर्देश करते है।

जीवस्थानो में योग

विगलासन्निपज्जत्तएसु—अर्थात् पर्याप्त विकलेन्द्रियो—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियो मे तथा पर्याप्त असज्ञी पचेद्रियो मे काययोग और वचनयोग, इस तरह दो योग होते है—'लब्भति कायवइयोगा'। सव्वेवि सन्निपज्जत्तएसु—अर्थात् सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में मनोयोग आदि तीनो योग के सभी उत्तर भेद—पन्द्रह योग होते हैं तथा इनसे शेष रहे पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय तथा अपर्याप्त द्वीन्द्रिय त्रीन्दिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय तथा सज्ञी पंचेन्द्रिय, इन नौ जीवस्थानो मे सिर्फ काययोग होता है—'सेसेसु काओगो।'

जीवस्थानो मे योगो विषयक इस सामान्य कथन को अब विशेषता के साथ स्पष्ट करते हैं—

विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो मे काययोग और वचनयोग यह दो योग होते है। काययोग तो इनमे औदारिकशरीररूप और 'विगलेसु असच्चमोसेव'[1]—विकलेन्द्रियो मे असत्यामृपारूप ही वचनयोग होता है—इस कथन के अनुसार असत्यामृपाभाषा—व्यवहारभाषारूप वचनयोग

---

1 गाथा ६

होगा। इसका कारण यह है कि ये सभी जीव तिर्यंच है और तिर्यंच जीवो के शरीर औदारिककाययोगनिष्पन्न होते हैं, इसलिए इनके औदारिककाययोग तो अवश्य होगा ही और असत्यामृषावचनयोग इसलिए माना है कि द्वीन्द्रिय आदि जीवो के स्पर्शन इन्द्रिय के अनन्तर रसना आदि श्रोत्र पर्यन्त एक-एक इन्द्रिय की वृद्धि होती जाती है। इस इन्द्रिय वृद्धि के क्रम मे रसनेन्द्रिय (जीभ) प्रथम है और जीभ शब्दोच्चारण की साधन है। अत जिन जीवो के रसनेन्द्रिय होगी वे, किसी न किसी शब्द-ध्वनि का उच्चारण अवश्य करेंगे ही। किन्तु इन द्वीन्द्रिय आदि जीवो का भाषाप्रयोग न तो सत्यरूप होता है और न मृषारूप, किन्तु असत्यामृषा—व्यवहारभाषारूप होता है। ये सभी असज्ञी होते है, जिससे इनमे मनोयोग मूलत. सम्भव नही है। इसलिए पर्याप्त विकलत्रिक और असज्ञी पचेद्रिय, इन चार जीवस्थानो मे औदारिककाययोग और असत्यामृषा—व्यवहारभाषारूप वचनयोग, यह दो योग माने जाते है।

पर्याप्त सज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो मे सभी योग पाये जाते है। इसका कारण यह है कि आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि सभी छहो पर्याप्तियो से युक्त होने से इनकी मन, वचन, काय योग सम्बन्धी योग्यता विशिष्ट प्रकार की होती है। इसलिए उनमे चारो मनोयोग, चारो वचनयोग और सातो काययोग है। इस प्रकार उनमे सभी पन्द्रह योग माने जाते है।[1]

योगो के पन्द्रह भेदो मे यद्यपि कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीन योग अपर्याप्त-अवस्थाभावी है। लेकिन इनको भी सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तको मे मानने का कारण यह है कि—

१ अपेक्षाविशेष से सामान्य सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान मे योगो का विचार किया जाये तो अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, इन तीनो योगो के सिवाय बारह योग भी माने जा सकेंगे।

कार्मण और औदारिकमिश्र काययोग पर्याप्त अवस्था मे तब होते है जब केवली भगवान् केवलिसमुद्घात करते है।[1] केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाचवे समय मे कार्मणकाययोग तथा दूसरे, छठे और सातवें समय मे औदारिकमिश्रकाययोग[2] होता है।

आहारककाययोग के अधिकारी सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य है और मनुष्यो मे भी चतुर्दशपूर्वधर सयत। जब वे चतुर्दशपूर्वधर सयत मुनि आहारकशरीर-लब्धि का प्रयोग करते है, तब आहारकशरीर के बनाने व त्यागने के समय तो आहारकमिश्रकाययोग और शेष समय मे—उस शरीर को धारण करने के समय मे आहारककाययोग होता है।

वैक्रियमिश्रकाययोग पर्याप्त अवस्था मे तब होता है जब कोई वैक्रियलब्धिधारी मुनि आदि वैक्रिय शरीर को बनाते हैं और देव, नारको के वैक्रिय काययोग होता है।

इस प्रकार पर्याप्त विकलत्रिक, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय, इन पाच जीवस्थानो मे प्राप्त योगो का पृथक्-पृथक् रूप से कथन करने के बाद ग्रन्थकार आचार्य ने शेष नौ जीवस्थानो मे योग का निर्देश करने के लिए गाथा मे जो—'सेसेसु काओगे' अर्थात् काययोग होता है[3] पद दिया है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१ केवलिसमुद्घात की स्थिति आठ समय प्रमाण है। इनमे केवली भगवान् आत्म-प्रदेशो को सर्वलोकव्यापी करके पुन शरीरप्रमाण कर लेते हैं।

२ मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥
कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च।

—प्रशमरति प्रकरण (उमास्वाति) २७६—२७७

३ दिगम्बर कार्मग्रन्थिको ने भी जीवस्थानो मे इसी प्रकार से योगो का निर्देश किया है—

लद्धीए करणेहि य ओरालियमीसगो अपज्जत्ते ।
पज्जत्तं ओरालो वेउव्विय मीसगो वा वि ||७||

शब्दार्थ—लद्धीए—लब्धि से, करणेहि—करण से, ओरालियमीसगो—औदारिकमिश्र अपज्जत्ते—अपर्याप्त मे, पज्जत्ते—पर्याप्त में, ओरालो—औदारिक, वेउव्विय—वैक्रिय, मीसगो—वैक्रियमिश्र, वा—अथवा, वि—भी ।

गाथार्थ—लब्धि और करण से अपर्याप्त जीवो मे औदारिकमिश्र-काययोग होता है तथा पर्याप्त अवस्था मे औदारिक, वैक्रिय अथवा वैक्रियमिश्रकाययोग होता है ।

विशेषार्थ- पूर्वगाथा मे 'सेसेसु काओगो' पद से जिन शेष रहे जीवस्थानो मे काययोग का निर्देश किया है, उनके नाम इस प्रकार है—

१-४ पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय, ५ अपर्याप्त-द्वीन्द्रिय, ६ त्रीन्द्रिय, ७ चतुरिन्द्रिय, ८ असज्ञी पचेन्द्रिय और ९ सज्ञी पचेन्द्रिय । इनमे पर्याप्त सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय, इन दो को छोडकर शेप सात अपर्याप्त अवस्थाभावी जीवस्थान है और यदि नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप चार गतियो की अपेक्षा इनका विभाजन किया जाये तो अपर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय को छोडकर शेप आठ जीवस्थान तिर्यंचगति में होते है

'णवसु चदुक्के इक्के जोगा इक्को य दोण्णि पण्णरसा ।'

—पचसग्रह शतक प्राकृतवृत्ति गा. ९

लेकिन भाष्यगाथाकार ने चौदह योगो का उल्लेख किया है—

सण्णी अपुण्णेसु चउदस जोया मुणेयव्वा ।।४३।।

जिसका स्पष्टीकरण वृत्ति मे इस प्रकार है—

मनुष्य-तिर्यगपेक्षया सज्ञिसपूर्णसु पर्याप्तेषु वैक्रियकमिश्र विना चतुर्दश योगा ज्ञातव्या ।

और अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थान चतुर्गति के जीवो मे पाया जाता है।

पूर्व मे अपर्याप्त और पर्याप्त के विचार-प्रसग मे अपर्याप्त के दो भेद बतलाये है—(१) लब्धि-अपर्याप्त और (२) करण-अपर्याप्त। मनुष्य और तिर्यंच तो लब्धि और करण दोनो प्रकार के अपर्याप्त सम्भव है किन्तु देव और नारक करण-अपर्याप्त होते है, लब्धि-अपर्याप्त नही होते है।

इस प्रकार से सक्षेप मे अवशिष्ट नौ जीवस्थानो के बारे मे निर्देश करने के बाद अब उनमे प्राप्त काययोग के भेदो को बतलाते है—

'लद्धीए करणेहि अपज्जत्ते' अर्थात् लब्धि और करण से अपर्याप्त ऐसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय और असज्ञी पचेन्द्रिय, ये छहो जीवस्थान औदारिक शरीर वाले है। अत इनकी अपर्याप्त दशा में 'ओरालियमीसगो'—औदारिक-मिश्रकाययोग तथा अपान्तरालगति (विग्रहगति) और उत्पत्ति के प्रथम समय मे कार्मण काययोग होता है। इन छह जीवस्थानो की अपर्याप्त दशा मे कार्मण और औदारिकमिश्रकाययोग मानने का कारण यह है कि सभी प्रकार के जीवो को अपान्तरालगति (विग्रहगति) मे तथा जन्म ग्रहण करने के प्रथम समय मे कार्मणयोग ही होता है, क्योकि उस समय औदारिक आदि स्थूल शरीर का अभाव होने के कारण योगप्रवृत्ति केवल कार्मणशरीर मे होती है और उत्पत्ति के द्वितीय समय से लेकर स्वयोग्य पर्याप्तियो के पूर्ण बन जाने तक मिश्रकाययोग सम्भव है। क्योकि उस अवस्था मे कार्मण और औदारिक आदि स्थूल शरीरो के सयोग से योगप्रवृत्ति होती है। इसीलिये अपर्याप्त अवस्था मे कार्मणकाययोग के बाद औदारिकमिश्रकाययोग माना गया है।

अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थान मे मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारक जीव गर्भित हैं, इसलिये सामान्य से इसमे कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीन योग होगे। लेकिन मनुष्य और तिर्यंचो की अपेक्षा

कार्मण और औदारिकमिश्र काययोग और देव नारको की अपेक्षा कार्मण और वैक्रियमिश्र काययोग होगे। मनुष्य और तिर्यंचो मे औदारिकमिश्र काययोग और देव, नारको मे वैक्रियमिश्र काययोग मानने का कारण यह है कि इनमे जन्मत क्रमश औदारिक और वैक्रिय शरीर होते है। अत उनकी अपर्याप्त अवस्था मे औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र शरीर माने जायेगे और कार्मण काययोग मानने का कारण पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार दोनो मे कार्मण काययोग समान होने से अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थान में तीन योग माने जाते है।

य पर्याप्त जीवो के औदारिककाययोग होता है। मन और वचन की लब्धि नही है, वैसे ही वैक्रिय ाही है। इसीलिये उनमे वैक्रियकाययोग आदि सम्भव एकेन्द्रिय जीव तिर्यचगति वाले है और तिर्यचगति र होता है। इसी कारण इनमे औदारिककाययोग

सात अपर्याप्त, पाच पर्याप्त सबधी जीवस्थानो में सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान मे आशिक रूप से करने के पश्चात् अवशिष्ट सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त और र्याप्त जीवस्थान मे योगो का प्रतिपादन करते हैं।

रालो ' इत्यादि अर्थात् सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान मे औदारिक, वैक्रिय और वैक्रियमिश्र काययोग होते है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पूर्व गाथा मे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त के भेद मनुष्यो मे केवलिसमुद्घात के समय औदारिकमिश्र, कार्मण तथा वैक्रियलब्धिसपन्न मनुष्यो तथा तिर्यंचो को वैक्रियलब्धिप्रयोग के समय वैक्रियमिश्रकाययोग का निर्देश किया था, लेकिन शेष समय मे प्राप्त योग को नही

बताया था। जिसको यहाँ स्पष्ट किया है कि उनको औदारिककाययोग जानना चाहिये और पर्याप्त देव और नारको को वैक्रियकाययोग होता है तथा पर्याप्त वादर एकेन्द्रिय जीवस्थान मे औदारिक, वैक्रिय और वैक्रियमिश्रकाययोग यह तीन योग माने जाने का कारण यह है कि पृथ्वी, जल आदि पाँचो स्थावर वादर एकेन्द्रिय तिर्यंच हैं और तिर्यंचो का औदारिक शरीर होता है, अत पर्याप्त अवस्था में औदारिककाययोग होता ही है। लेकिन वादर वायुकायिक जीवो के वैक्रियलब्धि होती है, इसलिए जव वे वैक्रिय शरीर बनाते हैं तव वैक्रियमिश्रकाययोग और वैक्रिय शरीर पूर्ण बन जाने पर वैक्रियकाययोग होता है।

'पज्जत्ते ओरालो वेउव्विय मीसगो वा वि' पद से यही आशय स्पष्ट किया गया है तथा गाथा के अन्त मे आये (वि) अपि शब्द से यह अर्थ भी ग्रहण करना चाहिए कि आहारकलब्धिसपन्न चौदह पूर्वधर को आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग भी होता है।

मतान्तर से जीवस्थानो मे योग

जीवस्थानो में योग-विचार के प्रसग मे कितने ही आचार्यो का मत है कि शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने से पहले मनुष्य और तिर्यंचो के औदारिकमिश्र और देव, नारको के वैक्रियमिश्र तथा शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् शेष पर्याप्तियो से अपर्याप्त मनुष्य और तिर्यंचो के औदारिक तथा देव, नारको के वैक्रियकाययोग होता है। एतद् विषयक अन्यकर्तृक गाथा इस प्रकार है—

कम्मुरलदुगमपज्जे वेउव्विदुग च सन्निलद्धिल्ले।
पज्जेसु उरलोच्चिय वाए वेउव्वियदुग च॥

शब्दार्थ—कम्मुरलदुग—कामण औदारिकद्विक, अपज्जे—अपर्याप्त मे, वेउव्विदुग—वैक्रियद्विक, सन्निलद्धिल्ले—लब्धियुक्त सज्ञी में, पज्जेसु—पर्याप्त में, उरलोच्चिय—औदारिककाययोग ही, वाए—वायुकाय में, वेउव्वियदुग—वैक्रियद्विक, च—और।

गाथार्थ—अपर्याप्त अवस्था मे कार्मण और औदारिकद्विक, ये तीन योग होते है और लब्धियुक्त सज्ञी मे वैक्रियद्विक तथा पर्याप्त मे औदारिककाययोग और वायुकाय में वक्रियद्विक योग होते है।

विशेषार्थ—मतान्तर के अनुसार जीवस्थानो मे योगो का निर्देश किया गया है कि—

अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि जीवस्थानो में कार्मण और औदारिकद्विक—औदारिक और औदारिकमिश्र, ये तीन काययोग होते ह—'कम्मुरलदुगमपज्जे'। अर्थात् अन्य आचार्यो के मत से शरीरपर्याप्ति से पूर्व के अपर्याप्तको मे तो कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो काययोग होते है और शरीरपर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद के अपर्याप्तको मे औदारिककाययोग होता है। इसी प्रकार देव और नारको के अपर्याप्त अवस्था मे कार्मण, वक्रियमिश्र और वंक्रिय काययोग तथा लब्धियुवत सज्ञी जीवो मे भी वंक्रियद्विक होते है और पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियादि तिर्यंचो एव मनुष्यो मे औदारिककाययोग तथा उपलक्षण से देव, नारको मे वक्रियकाययोग समझना चाहिये—'पज्जेसु उरलोच्चिय'।[1]

'वाए वेउव्विय दुग च'—अर्थात् पर्याप्त वायुकायिक जीवो मे वैक्रिय, वैक्रियमिश्र[2] तथा च शब्द से अनुक्त औदारिक का समुच्चय

---

१ यहाँ अपर्याप्त शब्द से अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले लब्धि-अपर्याप्त का ग्रहण करना चाहिये और अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले मनुष्य, तिर्यंच होते हैं। देव, नारको की जघन्य आयु भी दस हजार वर्ष की है और लब्धि-अपर्याप्त जीव भी इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण करने के बाद मरते है, उससे पूर्व नही। क्योकि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण हुए विना परभव की आयु का वध नही होता है, लब्धि-अपर्याप्त जीवो के औदारिक शरीर होता है, वैक्रिय शरीर नही, जिससे देव, नारको को ग्रहण करने की आवश्यकता नही है।

२ (क) आद्य तिर्यग्मनुष्याणा देवनारकयो परम्।
केषाञ्चिल्लब्धिमद्वायु सज्ञितिर्यग्नृणामपि॥

—लोकप्रकाश सर्ग ३

करके औदारिक, इस तरह तीन काययोग जानना चाहिये। औदारिक को ग्रहण करने का कारण यह है कि सभी को नही किन्तु कुछ एक वायुकायिक जीवो को वैक्रियद्विक काययोग होते है।[1]

उक्त कथन का साराश और विचारणीय विन्दु इस प्रकार है—

अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि सातो प्रकार के अपर्याप्त जीव जब शरीरपर्याप्ति पूर्ण कर लेते है तब औदारिक शरीर वालो के औदारिककाययोग होता है, औदारिकमिश्रकाययोग नही और वैक्रिय शरीर वालो के वैक्रियकाययोग किन्तु वैक्रियमिश्र काययोग नही। इस मतान्तर के मानने वाले शीलाकाचार्य आदि प्रमुख आचार्य हैं। उनका मतव्य है कि शरीरपर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के वाद भी शेष पर्याप्तियो के पूर्ण न होने से अपर्याप्त माने जाने वाले जीवो मे शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो जाने से शरीर पूर्ण हो गया और उस स्थिति मे औदारिक शरीर वालो के औदारिककाययोग और वैक्रिय शरीर

पहला (औदारिक) शरीर तिर्यंच, मनुष्यो के और दूसरा (वैक्रिय) शरीर देव, नारको के होता है तथा किन्ही लब्धि वाले वायुकायिको व सज्ञी तिर्यंच, मनुष्यो को भी होता है।

(ख) तत्वार्थभाष्यवृत्ति मे भी वायुकायिक जीवो के लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर होने का सकेत किया है—'वायोश्च वैक्रिय लब्धिप्रत्ययमेव' इत्यादि।

—तत्त्वार्थ. २/४८

(ग) दिगम्वर साहित्य मे भी वायुकायिक, तेजस्कायिक जीवो को वैक्रिय शरीर का स्वामी कहा है—

वादर तेऊवाऊ पंचिदियपुण्णगा विगुव्वति।

—गोम्मटसार जीवकाड गाथा २३२

वादर तेजस्कायिक और वायुकायिक तथा सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त और भोगभूमिज तिर्यंच, मनुष्य भी विक्रिया करते है।

(क) तिण्ह ताव रासीण वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि। वायरपज्जत्ताणपि सखेज्जइ भागस्सत्ति।　　　　—प्रज्ञापनाचूर्णि

→

इस प्रकार जीवस्थानो मे योगो का विचार करने के पश्चात् अव उनमे उपयोगो का निरूपण करते हैं।

जीवस्थानो मे उपयोग

> मइसुयअन्नाण अचक्खु दसणेक्कारसेसु ठाणेसु ।
> पज्जत्तचउपणिदिसु सचक्खु सन्नीसु बारसवि[1] ॥८॥

शब्दार्थ—**मइसुयअन्नाण**—मति-श्रुत-अज्ञान, **अचक्खुदसण**—अचक्षु-दर्शन, **एक्कारसेसु**—ग्यारह मे, **ठाणेसु**—जीवस्थानो में **पज्जत्त** पर्याप्त,, **चउपणिदिसु**—चतुरिन्द्रियो और पचेन्द्रियो में, **सचक्खु**—चक्षुदशन सहित, **सन्नीसु**—सज्ञी मे, **बारसवि**—सभी बारह ।

गाथार्थ—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन ये तीन उपयोग ग्यारह जीवस्थानो मे होते है। पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रियो मे चक्षुदर्शन सहित चार और सज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थान मे सभी वारह उपयोग होते है।

विशेषार्थ—पूर्व मे बताये गये उपयोग के बारह भेदो को अब जीवस्थानो मे घटित करते है—

'एक्कारसेसु ठाणेसु'—अर्थात् १ पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, २ अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, ३ पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, ४ अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, ५ पर्याप्त द्वीन्द्रिय, ६ अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, ७ पर्याप्त त्रीन्द्रिय, ८ अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, ९ अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, १० अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय और ११ अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय—इन ग्यारह जीवस्थानो मे 'मइसुय - अन्नाण अचक्खुदसण'—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन, यह तीन उपयोग होते है। यथाक्रम से जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१ तुलना कीजिये—

> एयारसेसु ति त्ति य दोसु चउक्क च वारमेक्कम्मि ।
> जीवममासस्सेदे उवओगविही मुणेयव्वा ॥
>
> —दिग पचसग्रह ४/२१

एकेन्द्रिय मे माने गए तीन उपयोगो मे श्रुत-अज्ञान उपयोग को ग्रहण करने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि—

प्रश्न—स्पर्शनेन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से एकेन्द्रियो मे मति उपयोग माना जा सकता है, लेकिन भाषा और श्रवणलब्धि न होने के कारण उनमे श्रुत उपयोग सम्भव नही है। क्योकि शास्त्रानुसार श्रुतज्ञान उसे कहते है जो बोलने की इच्छा वाले अथवा वचन सुनने वाले को होता है।

उत्तर—एकेन्द्रिय जीवो के स्पर्शनेन्द्रिय के सिवाय अन्य द्रव्येन्द्रियो के न होने पर भी वृक्षादि जीवो मे पाँचो भाव इन्द्रियो तथा बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी भावश्रुत ज्ञान का होना शास्त्र-सम्मत है। क्योकि उनमे आहार सज्ञा (अभिलाष) विद्यमान है और यह आहार-अभिलाष क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष है। अभिलाष शब्द और अर्थ के विकल्प पूर्वक होता है और विकल्प सहित उत्पन्न होने वाले अध्यवसाय का नाम ही श्रुतज्ञान है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि एकेन्द्रियो मे श्रुत उपयोग न माना जाये तो उनमे आहार का अभिलाप नही घट सकता है। इसलिये बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी उनमे अत्यन्त सूक्ष्म श्रुत उपयोग अवश्य मानना चाहिये और शास्त्र मे भाषा और श्रवण लब्धि वाले को ही भावश्रुत उपयोग बताने का तात्पर्य इतना ही है कि उक्त प्रकार की शक्ति वाले को स्पष्ट भावश्रुत होता है और दूसरो को अस्पष्ट।[1]

लब्धि-अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय की अपेक्षा तो मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन उपयोग होते है, लेकिन करण-

---

१ एकेन्द्रियो मे भावश्रुत प्राप्ति सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिए विशेपावश्यकभाष्य गाथा १००-१०४ एव टीका।

अपर्याप्त की अपेक्षा इसमे उपयोगो का विचार किया जाये तो मन-पर्यायज्ञान, केवलज्ञान, चक्षुदर्शन और केवलदर्शन इन चार उपयोगो के सिवाय शेष आठ उपयोग माने जायेंगे। मनपर्यायज्ञान आदि चार उपयोग न मानने का कारण यह है कि मनपर्यायज्ञान सयमी जीवो को होता है, किन्तु अपर्याप्त अवस्था मे सयम सभव नही है तथा चक्षुदर्शन चक्षुरिन्द्रिय वालो को होता है और चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार की अपेक्षा रखता है, लेकिन अपर्याप्त अवस्था मे चक्षुरिन्द्रिय का व्यापार नही होता है। केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग कर्मक्षयजन्य है, किन्तु अपर्याप्त दशा मे कर्मक्षय होना सभव नही है। इसी कारण सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के अपर्याप्त अवस्था मे मनपर्यायज्ञान, केवलज्ञान, चक्षुदर्शन और केवलदर्शन यह चार उपयोग नही होते है। किन्तु आठ उपयोग इसलिए माने जायेंगे कि तीर्थंकर तथा सम्यग्दृष्टि देव, नारक आदि की उत्पत्ति के क्षण से ही मति, श्रुत, अवधि ज्ञान और अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये पाँच उपयोग होते है तथा मिथ्यादृष्टि देव, नारक को जन्म समय मे ही मति-श्रुत-अवधि-अज्ञान और दो दर्शन होते है। दोनो प्रकार के जीवो मे (सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि मे) दो दर्शन समान है। अत उनकी पुनरावृत्ति न करने मे आठ उपयोग माने जाते है।[1]

---

१ दिगम्बर कार्मग्रथिको ने अपर्याप्त दशा मे सात उपयोग माने है। विभग-ज्ञान को ग्रहण नही किया है—

णवरि विभग णाण पचिदिय सण्णिपुण्णेव।

—गोम्मटसार जीवकाड, गाथा ३००

लेकिन यह सात उपयोग मानने का मत भी सर्वसम्मत नही, किन्ही किन्ही आचार्यो ने माना है—

पञ्चेन्द्रियसज्ञ्यपर्याप्तकजीवेषु मतिश्रुतावधिद्विक,मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-द्विक अवधिज्ञानदर्शनद्वय चकारात् अचक्षुर्दर्शन इति पच उपयोगा।

'पज्जत्त चउपर्णिदिसु सचक्खु' अर्थात् पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय मे चक्षुदर्शन सहित पूर्वोक्त तीन मिलाकर चार उपयोग होते हैं। यानी चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान यह चार उपयोग होते है। इन चार उपयोगो के होने का कारण यह है कि इनके पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है तथा आवरण की सघनता से चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के सिवाय अन्य दर्शनोपयोग तथा मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान के सिवाय अन्य ज्ञानोपयोग सभव नही है। इसी कारण पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानो मे चक्षुदर्शन सहित पूर्वोक्त मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन, कुल चार उपयोग माने जाते है।

अब शेष रहा सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान। इसमे सभी बारह उपयोग होते है—सन्नीसु बारसवि। यह कथन सामान्य की अपेक्षा समझना चाहिये, लेकिन विशेषापेक्षा विचार किया जाये तो देव, नारक और तिर्यच, इन तीन गतियो मे तो केवलज्ञान, केवलदर्शन और मनपर्यायज्ञान के सिवाय शेष नौ उपयोग होते है, मात्र मनुष्यगति मे ही बारह उपयोग सभव है।[1] केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग की स्थिति समय मात्र की और शेष छाद्मस्थिक दस उपयोगो की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मानी गई है।[2]

कुमति-कुश्रुतज्ञानद्वयमिति सप्त केचिद् वदन्ति अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियसज्ञिजीवेषु भवन्तीति विशेषव्याख्येयम्। —दि पचसग्रह ४/२३ की टीका

१ इनमे से छद्मस्थ मनुष्यो के केवलद्विक के सिवाय शेष दस और केवली भगवान के सिर्फ केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते हैं।

२ छाद्मस्थिक उपयोगो की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मानने के सबध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर मत समानतन्त्रीय है। सबधित उल्लेख इस प्रकार है—

(क) उपयोगस्थितिकालोऽन्तर्मुहूर्तपरिमाण प्रकर्षाद् भवति।

—तत्त्वार्थभाष्य २/८ की टीका

घट सकता है, किन्तु क्षायिक उपयोग मे यह सम्भव नही है। बोध-स्वरूप आत्मा के निरावरण होने पर दोनो क्षायिक उपयोग निरतर होने चाहिये। केवलज्ञान और केवलदर्शन की सादि-अनन्तता युगपत् पक्ष मे ही घट सकती है। क्योकि इस पक्ष मे दोनो उपयोग युगपत् और निरतर होते रहते है। जिससे द्रव्यार्थिक नय से उपयोगद्वय के प्रवाह को अनत कहा जा सकता है। सिद्धान्त मे जहाँ कही भी केवल-दर्शन और केवलज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है, वह सब दोनो के व्यक्तिभेद का साधक है, क्रमभावित्व का नही। अत दोनो उपयोग सहभावी मानने चाहिये।[1]

तृतीय पक्ष उभय उपयोगो मे भेद न मानकर ऐक्य मानता है। इसका प्रतिनिधित्व आचार्य सिद्धसेन दिवाकर करते हैं। इसके सम्बन्ध मे उनकी युक्तियाँ है कि यथायोग्य सामग्री मिलने पर एक ज्ञान-पर्याय मे अनेक घट-पटादि विषय भासित होते है, उसी प्रकार आव-रणक्षय, विषय आदि सामग्री मिलने पर एक ही केवल उपयोग पदार्थों के सामान्य-विशेष उभय स्वरूप को जान सकता है। जैसे केवलज्ञान के समय मतिज्ञानावरण आदि का अभाव होने पर भी मतिज्ञान आदि ज्ञान केवलज्ञान से अलग नही माने जाते, वैसे ही केवलदर्शनावरण का क्षय होने पर भी केवलदर्शन को केवलज्ञान से अलग नही मानना चाहिये। विषय और क्षयोपशम की विभिन्नता के कारण छाद्मस्थिक ज्ञान और दर्शन मे भेद मान ले लेकिन अनन्त विषयत्व और क्षायिक भाव समान होने मे केवलज्ञान, केवलदर्शन मे भेद नही माना जा सकता है तथा केवलदर्शन को यदि केवलज्ञान से अलग माना जाये

---

१ दिगम्बर साहित्य मे इसी युगपत् उपयोगद्वय पक्ष को स्वीकार किया है—

जुगव वट्टइ णाण केवलणाणिस्स दसण च तहा।
दिणयरपयासताप जह वट्टइ तह मुणेयव्व ॥

—नियमसार १६०

जुगव जम्हा केवलि णाहे जुगव तु ते दोवि। —द्रव्यसग्रह ४४

तो वह सामान्य मात्र को विषय करने वाला होने से अल्पविषय सिद्ध होगा तव उसकी अनन्त विषयता घट नही सकेगी। केवलदर्शन और केवलज्ञान सम्बन्धी आवरण एक होने पर भी कार्य और उपाधि भेद की अपेक्षा मे उसका भेद समझना चाहिए, जिसमे एक उपयोग व्यक्ति मे ज्ञानत्व-दर्शनत्व दो धर्म अलग-अलग कहलाते है। परन्तु दोनो अलग-अलग नही है। दोनो शब्दपर्याय एकार्थवाची है।

केवली मे उपयोग विषयक उक्त तीनो मतव्यो मे से कार्मग्रथिको ने सिद्धान्तमत को स्वीकार करके क्रमभावी माना है—

'सन्निपञ्चेन्द्रियेषु द्वादशोपयोगा भवन्ति, अपिशब्दाद्विद्यमानतया नतूपयोगेन, उपयोगस्त्वेकस्यैक एव भवति, यत उक्तमागमे—

'सव्वस्स केवलिस्सवि जुगव दो नत्थि उवओगा इति वचनात्।'[1]

इस प्रकार मे जीवस्थानो मे उपयोगो का कथन समझना चाहिये।[2] सरलता मे समझने के लिए जीवस्थानो में प्राप्त योगो और उपयोगो के प्रारूप इस प्रकार है—

क्र० स०	जीवस्थान नाम	योग सख्या व नाम
१	सूक्ष्म एकेन्द्रिय अप०	२ कार्मण, औदारिकमिश्र काययोग
२	सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	१ औदारिक काययोग
३	वादर एकेन्द्रिय अप०	२ कार्मण, औदारिकमिश्र काययोग
४	,, ,, पर्याप्त	३ औदारिक, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र

---

१ पचसग्रह स्वोपज्ञवृत्ति, पृ १०

२ दिगम्बर कार्मग्रथिको द्वारा किये गये जीवस्थानो मे उपयोग के निर्देश को परिशिष्ट मे देखिये।

क्र० स०	जीवस्थान नाम	योग सख्या व नाम
५	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
६	,, पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृषावचन
७	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
८	,, पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृषावचन
९	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
१०	,, पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृषावचन
११	अस० पचे० अपर्याप्त	२ कामण, औदारिकमिश्र
१२	,, ,, पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृषावचन
१३	सज्ञी पचे० अपर्याप्त	३ कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र
१४	,, ,, पर्याप्त	१५ सत्यमनोयोग आदि कार्मण काययोग पर्यन्त सभी[1]

---

१ मतान्तर से जीवस्थानो मे काययोग के भेदो को इस प्रकार जानना चाहिये—

इन चौदह जीवस्थानो मे से अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि सात मे शरीर-पर्याप्ति पूर्ण करने से पहले यथायोग्य औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र काययोग और शरीरपर्याप्ति पूर्ण कर लेने के वाद औदारिक, वैक्रिय काययोग होता है। अत इस मत के अनुसार सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छह अपर्याप्त जीवस्थानो मे कार्मण, औदारिकमिश्र औदारिक यह तीन काययोग और अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय मे कार्मण, औदारिकमिश्र, औदारिक, वैक्रियमिश्र, वैक्रिय यह पाँच काययोग माने जायेंगे।

क्र० स०	जीवस्थान नाम	उपयोग संख्या, नाम[1]				
१	सूक्ष्म एकेन्द्रिय अप०	३	मतिअ०,	श्रुतअ०	अचक्षुदर्शन	
२	सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	३	,,	,,	,,	
३	बादर एकेन्द्रिय अप०	३	,,	,,	,,	
४	,, ,, पर्याप्त	३	,,	,,	,,	
५	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	३	,,	,,	,,	
६	,, पर्याप्त	३	,,	,,	,,	
७	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	३	,,	,,	,,	
८	,, पर्याप्त	३	,,	,,	,,	
९	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	३	,,	,,	,,	
१०	,, पर्याप्त	४	,,	,,	,,	चक्षुदर्शन
११	अस० पचे० अपर्याप्त	३	,,	,,	,,	
१२	,, ,, पर्याप्त	४	,,	,,	,,	चक्षुदर्शन
१३	सज्ञी पंचे० अपर्याप्त[2]	३	,,	,,	,,	
१४	,, ,, पर्याप्त	१२	मतिज्ञान आदि केवलदर्शन पर्यन्त			

---

१ सिद्धान्त के अनुसार जीवस्थानो मे उपयोग इस प्रकार जानना चाहिए—अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानो मे अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये पाच उपयोग होते है।

२ करण-अपर्याप्त की अपेक्षा सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त मे केवलद्विक, मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन के सिवाय शेष आठ उपयोग समझना चाहिये।

मार्गणास्थानो मे योग

निर्देशानुसार जीवस्थानो मे योग और उपयोग का विवेचन करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त मार्गणास्थानो मे योगो और उपयोगो का कथन करना इष्ट है। इनमे योगो का क्रम प्रथम है, अत उन्ही का विचार प्रारम्भ करते है—

इगिविगलथावरेसु न मणो दो भेय केवलदुगम्मि ।
इगिथावरे न वाया विगलेसु असच्चमोसेव ॥९॥
सच्चा असच्चमोसा दो दोसुवि केवलेसु भासाओ ।
अतरगइ केवलिएसु कम्मयन्नत्थ त विवक्खाए ॥१०॥
मणनाणविभगेसु मीस उरलपि नारयसुरेसु ।
केवलथावरविगले वेउव्विदुग न सभवइ ॥११॥
आहारदुग जायइ चोद्दसपुव्विस्स इइ विसेसणओ ।
मणुयगइपचेदियमाइएसु समईए जोएज्जा ॥१२॥

शब्दार्थ—इगिविगलथावरेसु—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और स्थावरो मे, न—नही, मणो—मनोयोग, दो भेय—दो भेद, केवलदुगम्मि—केवलद्विक मे, इगिथावरे—एकेन्द्रिय और स्थावरो मे, न—नही, वाया—वचनयोग, विगलेसु—विकलेन्द्रियो मे, असच्चमोसेव—असत्यामृषा ही ।

सच्चा—सत्य, असच्चमोसा—असत्यामृषा, दो—दो, दोसुवि—दोनो ही, केवलेसु—केवल मार्गणाओ मे, भासाओ—भाषायें (वचनयोग), अन्तरगइ—अन्तरगति (विग्रहगति), केवलिएसु—केवलि (केवलिसमुद्घात) मे, कम्मय्—कार्मणयोग, अन्नत्थ—अन्यत्र, त—वह, विवक्खाए—विवक्षा से ।

मणनाणविभगेसु—मनपर्यायज्ञान और विभगज्ञान मार्गणा मे, मीस—मिश्र, उरल पि—औदारिक भी, नारयसुरेसु—नरक और देवगति मे, केवल—केवलद्विक, थावर—स्थावर, विगले—विकलेन्द्रियो मे, वेउव्विदुग—वैक्रियद्विक, न—नही, सभवइ—होते है ।

आहारदुग—आहारद्विक, जायइ होते है, चोद्दसपुव्विस्स—चौदह पूर्वी को, इइ—इस, विसेसणओ विशेषण मे, मणुयगइ मनुष्यगति, पचेन्दियमाइएसु—पचेन्द्रिय आदि मार्गणाओ मे, समईए—अपनी बुद्धि से, जोएज्जा—योजना कर लेना चाहिये ।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और स्थावरो मे मनोयोग नही होता है । केवलद्विक मार्गणा मे मनोयोग के दो भेद नही होते है । एकेन्द्रिय और स्थावरो मे वचनयोग नही होता और विकलेन्द्रियो मे असत्यामृपा वचनयोग ही होता है ।

केवलद्विक मार्गणा मे सत्य और असत्यामृपा यह दो वचनयोग होते है । विग्रहगति और केवलिसमुद्घात मे कार्मणयोग होता है, अन्यत्र वह विवक्षा मे जानना चाहिए ।

मनपर्याय और विभगज्ञान मार्गणा मे औदारिक मिश्रयोग सभव नही है । नरक देव गति मे औदारिक काययोग व केवलद्विक, स्थावर और विकलेन्द्रियो मे वैक्रियद्विक योग नही होते है ।

आहारकद्विक चौदह पूर्वधारी को ही होते है, अत इस विशेषण से मनुष्यगति, पचेन्द्रिय आदि मार्गणाओ मे जहाँ चौदह पूर्वधर सभव हो, वहाँ स्वबुद्धि से उनकी योजना कर लेना चाहिए ।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने इन चार गाथाओ मे विधिनिषेध प्रधान शैली के द्वारा मार्गणाओ मे योगो की योजना की है और मार्गणाओ के नाम एव अवान्तर भेद आदि आगे बतलाए है ।[1] लेकिन सुविधा की दृष्टि से यहाँ उनके भेद आदि को जानना उपयोगी होने

1 योगोपयोगमार्गणा अधिकार गा २१

से पहले मार्गणाओ के भेद और उनके लक्षण बतलाते है।

मार्गणा के भेद

सक्षेप मे मार्गणा का लक्षण पहले बतलाया जा चुका है कि समस्त जीव जिन भावो के द्वारा और जिन पर्यायो मे अनुमार्गण किये जाते है, उन्हे मार्गणा कहते है।

लोक मे विद्यमान जीवो के अन्वेषण का मुख्य आधार है बाह्य आकार-प्रकार की अवस्था विशेष और उनमे विद्यमान त्रिकालावस्थायी भावो का समन्वय। यद्यपि शास्त्रो मे जीवो के अन्वेषण के लिए मार्गणा के अतिरिक्त और दूसरे भी दो प्रकार बताये है—जीवस्थान और गुणस्थान। जीवस्थानो के द्वारा जीवो का जो अनुमार्गण किया जाता है, वहाँ सिर्फ बाह्य आकार-प्रकार और अवस्था की अपेक्षा मुख्य है और उनके आधार हैं शरीरधारी ससारी जीव। जिससे इस अन्वेषण मे उन जीवो के आत्मिक भावो का ग्रहण-बोध नही हो पाता है और गुणस्थानो मे सिर्फ भावो की अपेक्षा किये जाने वाले अनुमार्गण से शरीर, इन्द्रिय आदि बाह्य आकार-प्रकार की विभिन्नता रखने वाले जीवो का ग्रहण नही होता है। लेकिन मार्गणास्थानो की उभयदृष्टि है। जिससे उनके द्वारा किये जाने वाले अन्वेषण की ऐसी विशेषता है कि बाह्य शरीर आदि आकार-प्रकार और भावो से युक्त सभी प्रकार के जीवो का ग्रहण-अन्वेषण हो जाता है। इसीलिये मार्गणास्थानो की कुछ विशेषता के साथ व्याख्या की जाती है।

जीव राशि अनन्त है। उन अनन्त जीवो मे से जो जीव सकर्मा होकर ससार मे परिभ्रमण कर रहे है, उन्हे ससारी और कर्मरहित ससारातीत जीवो को मुक्त कहते है। इस प्रकार की भिन्नता होने

पर भी समस्त जीव ज्ञान-दर्शन आदि आत्मगुणो और किसी न किसी अवस्था-पर्याय मे विद्यमान है। यद्यपि मुक्त जीव वर्तमान में पर्यायातीत हो चुके है, उनमे पर्याय-अवस्थाजन्य भेद नही है। इन्द्रिय, वेद आदि भी नही रहे है, लेकिन भूतपूर्वप्रज्ञापननय की अपेक्षा पर्याय का आरोप करके उनको भी पर्यायवान मान लिया जाता है।

प्रस्तुत मे ससारी जीवो का प्रसग है। इसीलिये उनके अनुमार्गण और उनकी समस्त पर्यायो एव उनमे विद्यमान भावो का समावेश करने के लिये मार्गणा के निम्नलिखित चौदह भेद किये गये है—

१ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ सयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्य, १२ सम्यक्त्व, १३ सज्ञी और १४ आहारक।[1]

ये मार्गणाओ के मूल-मुख्य चौदह भेद है। जिनमे समस्त जीवो का समावेश हो जाता है। लेकिन ससारी जीवो मे गति, इन्द्रिय, काय, ज्ञान आदि जन्य अनेक प्रकार की विभिन्नताये देखी जाती है। इसलिये उनकी अनेक प्रकार की विभिन्नताओ का समावेश करने और उनका बोध कराने के लिये प्रत्येक मार्गणा के अवान्तर भेद कर लिये जाते हे। उन भेदो के नाम सहित प्रत्येक मार्गणा का लक्षण इस प्रकार है

१—**गतिमार्गणा**—कर्मप्रधान जीव (ससारी जीव) के द्वारा जो प्राप्त की जाती है, अर्थात् नरक, देव आदि रूप में आत्मा का जो परिणाम, उसे गति कहते है।[2] अथवा गति नामकर्म के उदय से होने

---

१ गोम्मटसार जीवकाड मे भी मार्गणा के चौदह भेदो के नाम इसी प्रकार से बतलाये है—

गइइदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
सजमदसणलेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥१४३

२ तत्र गम्यते तथाविधकर्मसचिवैर्जीवै प्राप्यते इति गति । नारकत्वादिपर्याय परिणति ।

—पचसग्रह मलयगिरि टीका पृ. १०

वाली जीव की पर्यायविशेष को गति कहते हैं। उसके चार भेद हैं—१. नरकगति, २ तिर्यंचगति, ३ मनुष्यगति, और ४ देवगति।[1]

२. इन्द्रियमार्गणा—इद् धातु परम ऐश्वर्य का बोध कराने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अत 'इन्दनादिन्द्र' अर्थात् परम ऐश्वर्य जिसमे हो उसे इन्द्र कहते है। आत्मा मे ही उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन, सामर्थ्य आदि का योग होने से आत्मा ही इन्द्र है। उसका जो लिंग-चिह्न, उसे इन्द्रिय कहते है। इन्द्रियो के पाच भेद है—१ स्पर्शन, २ रसन, ३ घ्राण, ४ चक्षु और ५ श्रोत्र।[2]

इन्द्रियो का स्वतत्र अस्तित्व नही होने से इन्द्रियो के ग्रहण से तथारूप स्व-स्व योग्य इन्द्रिय वाले एकेन्द्रिय आदि जीवो का ग्रहण करना चाहिए। क्योकि इन्द्रियवान आत्माओ मे ही योगादि का विचार किया जाता है। इस अपेक्षा से इन्द्रियमार्गणा के पाच भेद है—१ एकेन्द्रिय, २ द्वीन्द्रिय, ३ त्रीन्द्रिय, ४ चतुरिन्द्रिय और ५ पचेन्द्रिय।

३ कायमार्गणा—'चीयते इति काय'—पुद्‌गलो के मिलने-बिखरने के द्वारा जो चय-उपचय धर्म को प्राप्त करे उसे काय कहते है। अथवा जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते है। उसके छह भेद हैं—१ पृथ्वीकाय, २ जलकाय, ३ तेजस्काय, ४ वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय, ६ त्रसकाय।

४ योगमार्गणा—मन-वचन-काय से युक्त जीव की जो कर्मो के ग्रहण करने मे कारणभूत शक्ति है, उसे योग कहते है। अथवा

---

१ नारकतैर्यग्योनमानुपदेवानि।

—तत्त्वार्थसूत्र ८/१०

२ स्पशनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्राणि। —तत्त्वार्थसूत्र २/१९

वीर्यशक्ति के जिस परिस्पन्दन से---आत्मिक प्रदेशो की हलचल से जीव की भोजन, गमन आदि क्रियाये होती है, उमे योग कहते है। योग का विस्तार से पूर्व में विचार किया जा चुका है, तदनुसार यहाँ समझ लेना चाहिए। योग के सामान्य से तीन भेद है—१ मनोयोग, २ वचनयोग, ३ काययोग और उनके क्रमश चार, चार और सात अवान्तर भेद होने से योगो के पन्द्रह भेद होते है।

५ वेदमार्गणा—'वेद्यते इति वेद'—जिसके द्वारा इन्द्रियजन्य, संयोगजन्य सुख का वेदन-अनुभव किया जाये, उसे वेद कहते है। वेद अभिलापा रूप है। उसके तीन भेद है—१ स्त्रीवेद, २ पुरुषवेद, ३ नपुंसकवेद।[1]

६ कषायमार्गणा—जिसमे प्राणी परस्पर दण्डित-दु खी हो, उसे कष् यानी ससार कहते हैं। अत जिसके द्वारा आत्माये ससार को प्राप्त करे, उसमे भ्रमण करे, दु खी हो, उसे कपाय कहते है। कपाय के चार भेद है—१ क्रोध, २ मान, ३ माया और ४ लोभ।[2]

७ ज्ञानमार्गणा- जिसके द्वारा जाना जाये उसे ज्ञान कहते है। अर्थात् जिसके द्वारा जीव त्रिकालविपयक—भूत, भविष्य और वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य और उनके गुणो व पर्यायो को जाने वह ज्ञान है। ज्ञान के ग्रहण मे उसके प्रतिपक्षी अज्ञान का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। अत पाच ज्ञान और तीन अज्ञान, इस प्रकार इसके आठ भेद हैं। जिनके नाम हैं—१ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मनपर्यायज्ञान, ५ केवलज्ञान, ६ मति-अज्ञान, ७ श्रुत-अज्ञान, ८ विभगज्ञान।

८ सयममार्गणा—सयम अर्थात् त्याग, सम्यक् प्रकार से विराम

---

१ स्त्रीपुन्नपु सकवेदा ।

—तत्त्वार्थसूत्र ८/६

२ क्रोधमानमायालोभा ।

— तत्त्वार्थसूत्र ८/१०

लेना, विरत होना, श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक सर्वथा पापव्यापार का त्याग करना सयम अथवा चारित्र कहलाता है। उसके पाच भेद है—१ सामायिक, २ छेदोपस्थापना, ३ परिहारविशुद्धि, ४ सूक्ष्म-सपराय ५ यथाख्यात।[1]

सयम के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षभूत और आशिक का भी ग्रहण करना चाहिये। अत १ असयम और २ देशसयम का ग्रहण करने से सयममार्गणा के कुल सात भेद है।

९ **दर्शनमार्गणा**—दर्शन अर्थात् देखना। अथवा सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के विषय में जाति, गुण, लिंग, क्रिया की अपेक्षा के बिना सामान्यमात्र जो बोध, उसे दर्शन कहते है। उसके चार भेद हैं—१ चक्षुदर्शन, २ अचक्षुदर्शन, ३ अवधिदर्शन, ४ केवलदर्शन।[2]

१० **लेश्यामार्गणा**—जिस परिणाम के द्वारा आत्मा का कर्मों के साथ श्लेषण–चिपकना होता है, उसे लेश्या कहते है।[3] योगान्तर्गत कृष्णादि द्रव्य के योग से हुआ आत्मा का जो शुभाशुभ परिणामविशेष लेश्या कहलाता है। लेश्या के छह भेद है—१ कृष्ण, २ नील, ३ कापोत, ४ तैजस्, ५ पद्म और ६ शुक्ल लेश्या।[4]

---

१ सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसपराययथाख्यातमितिचारित्रम्।
—तत्त्वार्थसूत्र ९ | १८

सामायिक आदि यथाख्यात पर्यन्त पाच चारित्रो का सामान्य परिचय परिशिष्ट मे दिया हैं।

२ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाना।
—तत्त्वार्थसूत्र ८/७

३ लिश्यते श्लिष्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या।
—पचसग्रह मलयगिरि टीका पृ १२

४ योग के साथ लेश्याओ का अन्वय-व्यतिरेक सबन्ध है। क्योंकि योग के सद्भाव रहने तक लेश्यायें होती है और योग के अभाव मे अयोगि अवस्था मे नही होती हैं। इस प्रकार लेश्याओ का अन्वय-व्यक्तिरेक सबन्ध योग के साथ होने से लेश्यायें योगान्तर्गत द्रव्य है, यह समझना चाहिये।

११· भव्यमार्गणा—तथारूप अनादि पारिणामिकभाव द्वारा मोक्ष-गमन के योग्य जो आत्मा उसे भव्य[1] और तथाप्रकार के अनादि पारिणामिकभाव द्वारा मोक्षगमन के जो आत्मा अयोग्य उसे अभव्य कहते है। यहाँ भव्य के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षभूत अभव्य का भी ग्रहण करना चाहिये। इसलिये इसके दो भेद हैं– १ भव्य, २. अभव्य।

१२ —सम्यक्त्वमार्गणा—सम्यक् शब्द प्रशसा अथवा अविरुद्ध अर्थ का द्योतक है। अत सम्यक् जीव का भाव—परिणामविशेष सम्यक्त्व कहलाता है। सम्यक्त्व के तीन भेद है–१ क्षायिक, २ क्षायोपशमिक, ३. औपशमिक।[2] सम्यक्त्व के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षी १ मिथ्यात्व, २ सासादन और ३ मिश्र (सम्यग्-मिथ्यात्व) का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकार सम्यक्त्वमार्गणा के कुल छह भेद है।

१३ सज्ञीमार्गणा—जिसके द्वारा पूर्वापर का विचार किया जा सके, उसे सज्ञा कहते है। ससारी जीवो के पास विचार करने का साधन मन है। अत मन वाले जीवो को सज्ञी और उनके प्रतिपक्षी मनरहित जीवो -एकेन्द्रियादि जीवो को असज्ञी कहते है। इसके दो भेद हैं–१ सज्ञी और २ असज्ञी।

१४ आहारमार्गणा—ओज, लोम और कवल, इन तीन प्रकार के आहार मे से किसी भी प्रकार का आहार जो करता है उसे आहारी—आहारक[3] और इन तीनो मे से एक भी प्रकार का आहार जो नही

---

१ भव्यस्तथारूपानादिपारिणामिकभावात्सिद्धिगमनयोग्य ।

—पचसग्रह मलयगिरि टीका पृ १२

२ तीनो प्रकार के सम्यक्त्व का विशेष स्वरूप उपशमनाकरण मे देखिये। सम्यक्त्व की प्राप्तिविषयक चर्चा का साराश परिशिष्ट मे दिया है।

३ ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारयतीत्याहारक ।

—पचसग्रह मलय. टी पृ १३

करता है उसे अनाहारक—अनाहारी कहते है। आहारी के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षी अनाहारी का भी ग्रहण किये जाने से आहारमार्गणा के दो भेद इस प्रकार है—१ आहारी और २ अनाहारी।

औदारिक आदि तीन शरीरो और आहार, शरीर आदि छह पर्याप्तियो के योग्य अथवा उपभोग्य शरीर के योग्य पुद्गलो के ग्रहण करने को आहार कहते है।

दिगम्बर साहित्य मे (गोम्मटसार जीवकाड मे) आहार का लक्षण इस प्रकार बताया है—

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताण।
णोकम्मवग्गणाण गहण आहारय णाम ॥ ६६३

शरीर नामकर्म के उदय से शरीर,वचन और द्रव्यमन रूप बनने के योग्य नोकर्मवर्गणा का जो ग्रहण होता है, उसे आहार कहते है।

ओज-आहार आदि के लक्षण इस प्रकार है—

सरिरेणोयाहारो तयाइ फासेण लोमआहारो ॥
पक्खेवाहारो पुण कवलिओ होइ नायव्वो ॥

—प्रवचनसारोद्धार गा ११८०

गर्भ मे उत्पन्न होने के समय जो शुक्र-शोणित रूप आहार कार्मण शरीर के द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसे ओज-आहार, स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा जो ग्रहण किया जाता है, उसे लोम और जो अन्न आदि खाद्य मुख द्वारा ग्रहण किया है, उसे कवलाहार (प्रक्षेपाहार) कहते है।

दिगम्बर साहित्य मे आहार के छह भेद बताये है—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥

—प्रमेयकमलमार्तण्ड,द्वितीय परिच्छेद

नोकर्म, कर्म, कवल, लेप्य, ओज और मानस, आहार के क्रमश ये छह भेद है।

इस प्रकार मार्गणाओ के मूल चौदह भेद और उनके अवान्तर भेदो की कुल सख्या बासठ जानना चाहिये—गति ४ इन्द्रिय ५ काय ६ योग ३ वेद ३ कषाय ४ ज्ञान ८ सयम ७ दर्शन ४ लेश्या ६ भव्य २ सम्यक्त्व ६ सज्ञी २ आहार २। इन सब भेदो की संख्या मिलाने पर मार्गणाओ के उत्तर भेद बासठ होते है।

मार्गणाओ मे योग

अब इनमे से कतिपय मार्गणाओ मे विधिमुखेन और कुछ एक मे प्रतिषेधमुखेन योगो का निर्देश करते है।

योगो के मूल तीन भेद है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इनके क्रमश चार, चार और सात अवान्तर भेदो के लक्षण सहित नाम पूर्व में बतलाये जा चुके है।

उनमे से मनोयोग के चार भेद कौन-कौनसी मार्गणाओ मे सभव है और किनमे सम्भव नही है, इन दोनो को स्पष्ट करने के लिये गाथा मे पद दिया है —'इगिविगलथावरेसु न मणो' अर्थात् इन्द्रियमार्गणा के पाच भेदो मे से एकेन्द्रिय, विकलत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तथा कायमार्गणा के स्थावर रूप पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति कायरूप पाच भेदो मे मनोयोग नही होता है। अर्थात् इनमे मूलत मनोयोग न होने से उसके सत्य, असत्य आदि चारो भेदो मे से एक भी भेद नही पाया जाता है तथा उपलक्षण से समकक्ष असज्ञी और अनाहारक इन दो मार्गणाओ मे भी मनोयोग सर्वथा नही पाया जाता है।

साराश यह है कि इन्द्रियमार्गणा के एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रय तक के चार भेदो, कायमार्गणा के पृथ्वीकाय आदि वनस्पतिकाय पर्यन्त के पाच भेदो, सज्ञीमार्गणा के भेद असज्ञी तथा आहारमार्गणा के भेद अनाहारक, इन ग्यारह मार्गणाओ मे मनोयोग के चार भेदों मे मे एक भी नही होता है।

विधिमुखेन उक्त कथन का यह आशय फलित होगा कि मार्गणाओ के बासठ अवान्तर भेदो मे से ग्यारह मे तो मनोयोग मूलत ही

नही होता है और शेष इक्यावन भेदो में मनोयोग पाया जाता है। लेकिन सामान्य से इनमे मनोयोग पाये जाने पर भी उत्तरभेदो की अपेक्षा कुछ अपवाद है। जिनको स्पष्ट किया है 'न मणो दो भेय केवलदुगमि' अर्थात् केवलद्विक— केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो मार्गणाओ मे असत्य और सत्यासत्य यह दो मनोयोग तो नही होते है किन्तु सत्य और असत्यामृषा मनोयोग होते है।

जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जब कोई अनुत्तर विमानवासी या मनपर्यायज्ञानी अपने स्थान पर रहकर मन से ही केवली से प्रश्न पूछते हैं तब उनके प्रश्नो को केवलज्ञान द्वारा जानकर केवलज्ञानी मन से ही उनका उत्तर देते है, यानी मनोद्रव्य[1] को ग्रहण कर ऐसी रचना करते है कि जिसमे प्रश्नकर्ता अवधिज्ञान या मनपर्यायज्ञान से जानकर केवलज्ञानी द्वारा दिये गये उत्तर को अनुमान द्वारा जान लेते है।

मनोद्रव्य को अवधिज्ञान या मनपर्यायज्ञान द्वारा जान लेना स्वाभाविक है, क्योकि मूर्त्त रूपी द्रव्य उनका विषय है।[2] यद्यपि मनोद्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म है, लेकिन जैसे कोई मनोवैज्ञानिक किसी के चेहरे के भावो को देखकर उसके मनोभावो का अनुमान द्वारा ज्ञान कर लेते है, उसी प्रकार अवधिज्ञानी और मनपर्यायज्ञानी भी मनोद्रव्य की रचना देखकर अनुमान द्वारा यह जान लेते है कि ऐसी मनोरचना द्वारा अमुक अर्थ का चिन्तन किया गया होना चाहिये।

अब वचनयोग के भेदो का विचार करते है—

'इगिथावरे न वाया' अर्थात् इन्द्रियमार्गणा के भेद एकेन्द्रिय मे तथा कायमार्गणा के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति, इन पाच स्थावर

---

१ दिगम्बर साहित्य मे भी केवलज्ञानी के द्रव्यमन का सबध माना है। देखिये गोम्मटसार जीवकाड गाथा २२७, २२८

२ रूपिष्ववधे। तदनन्तभागे मन पर्यंयस्स।

—तत्त्वार्थसूत्र १ | २७,२८

रूप भेदो मे तथा उपलक्षण से आहारमार्गणा के भेद अनाहारक, इन ७ मार्गणाओ मे वचनयोग के चारो भेद नही होते है।

शेप मार्गणाभेदो मे वचनयोग के चार उत्तरभेदो मे से जो जिसमे पाया जाता है, अव इसको स्पष्ट करते हैं—

'विगलेसु असच्चमोसेव' अर्थात् विकलेन्द्रियो—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियो, इन्द्रियमार्गणा के इन तीन भेदो मे तथा उपलक्षण मे इनके ही समकक्ष असज्ञियो मे भी असत्यामृषा वचनयोग समझना चाहिए। क्योकि इनमे वचनयोग की साधन रूप भाषालब्धि होती है, इसलिए इनमे असत्यामृषा वचनयोग होता है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो मार्गणाओ मे सत्य और असत्यामृपा यह दो वचनयोग होते है, जो केवली भगवान को देशना देने आदि के समय होते है।

पूर्वोक्त के अतिरिक्त जिन मार्गणास्थानो मे मनोयोग के चार और वचनयोग के चार भेद होते है, उनके नाम इस प्रकार है—

गतिमार्गणा—नरकादि चारो गति, इन्द्रियमार्गणा—पचेन्द्रिय, कायमार्गणा—त्रसकाय, योगमार्गणा—मन आदि तीनो योग और भेदापेक्षा तथारूप अपना अपना योग, वेदमार्गणा—स्त्री आदि तीनो वेद, कषायमार्गणा—क्रोधादि चारो कपाय, ज्ञानमार्गणा—केवलज्ञान के सिवाय शेष मतिज्ञान आदि सात भेद तथा केवलज्ञान मे सत्य, असत्यामृपा नामक मनोयोग-वचनयोगद्वय, सयममार्गणा—सामायिक आदि सात भेद, दर्शनमार्गणा—चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन मे सत्य, असत्यामृषा मनोयोग-वचनयोग, लेश्यामार्गणा—कृष्णादि छहो लेश्या, भव्यमार्गणा—भव्य अभव्य दोनो भेद, सम्यक्त्व-मार्गणा—उपशम सम्यक्त्व आदि छहो भेद, संज्ञीमार्गणा—संज्ञी जीव, आहारमार्गणा—आहारी जीव।

इस प्रकार वासठ मार्गणास्थानो मे विधि-निषेध प्रणाली से

मनोयोग और वचनयोग के भेदो को बतलाने के पश्चात् अब काययोग के सात भेदो का निर्देश करते है—

सर्वप्रथम कार्मणकाययोग के बारे मे बतलाते है कि 'अतरगइ केवलिएसु कम्म' अर्थात् अपान्तरालगति (विग्रहगति) और केवलि-समुद्घात-अवस्था के तीसरे, चौथे और पाचवे समय मे मात्र कार्मणयोग होता है, लेकिन इसके अतिरिक्त अन्यत्र विवक्षा से समझना चाहिए कि यदि सत्ता रूप मे विवक्षा की जाये तो होता है और योग रूप मे विवक्षा की जाये तो नही होता है। क्योकि पूर्वोक्त के सिवाय शेष समयो मे औदारिकमिश्र या औदारिक आदि शुद्ध काययोग होते है, लेकिन मात्र कार्मणकाययोग नही होता है।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि वैसे तो समस्त ससारी जीव सदैव कार्मणशरीर से सयुक्त है। चाहे वर्तमान भव हो या भवान्तर हो अथवा इस भव को छोडकर भवान्तर मे जाने का प्रसग हो, सर्वत्र कार्मणकाययोग साथ मे रहेगा ही और जब इसका अत हो जायेगा तब जीव के ससार का भी अत हो जाता है। लेकिन सिर्फ कार्मण शरीर ही हो, अन्य शरीरो के साथ मिला-जुला होकर ससारी जीवो मे न पाया जाये तो इसको स्पष्ट करते हुए ग्रथकार आचार्य ने निर्देश किया है—'अन्तरगई केवलिएसु कम्म'।

अर्थात् मात्र कार्मणयोग ससारी जीवो मे तभी पाया जायेगा जब वे भव से भवान्तर का शरीर ग्रहण करने के लिए गति करते है और उत्पत्ति के प्रथम समय तक तथा केवली भगवान् यद्यपि ससार के कारणभूत कर्मों का क्षय कर चुके है और अवशिष्ट कर्मो का क्षय होने पर सदा के लिए ससार का अत कर देगे, मुक्त हो जायेगे। किन्तु आयुस्थिति की अल्पता एव अन्य कर्मो की कालमर्यादा अधिक होने पर आयुस्थिति के बराबर उन शेष कर्मों की काल-मर्यादा करने के लिए जब अष्ट सामयिक केवलिसमुद्घात-प्रक्रिया करते है तब उस प्रक्रिया के तीसरे, चौथे और पाचवें समय मे भी मात्र कार्मणयोग पाया जाता है। इन दोनो स्थितियो के सिवाय शेष

समय में सत्तारूप और योगरूप यथायोग्य विवक्षा से ससारी जीवो मे कार्मण काययोग का सद्भाव समझना चाहिए।

अपान्तरालगति और केवलिसमुद्घात में मात्र कार्मणकाययोग प्राप्त होने के उक्त कथन पर जिज्ञासु पूछता है—

प्रश्न—विग्रहगति और केवलिसमुद्घात मे मात्र कार्मण काययोग पाया जाता हो, लेकिन यहाँ मार्गणास्थानो में योगो की प्ररूपणा की जा रही है तो इन दोनो का किस मार्गणा मे समावेश किया जायेगा ?

उत्तर—यद्यपि यह दोनो साक्षात मार्गणाये नही है और न मार्गणाओ के अवान्तर भेद है, किन्तु कार्मण काययोग की विशेप स्थिति बतलाने एव गति, इन्द्रिय, काय, वेद और सज्ञी, असज्ञी जीवो के अपान्तरालगति मे भी अपने-अपने नाम से कहलाने के कारण का बोध कराने की दृष्टि से यह कथन समझना चाहिये। कदाचित् यह कहो कि अपने-अपने नाम वाले कैसे कहलाते है ? तो इसका उत्तर यह है कि अपनी-अपनी आयु के उदय के कारण। जैसी कि आगम मे उनकी कायस्थिति बतलाई है—

> एगिदियाणणता दोण्णिसहस्सा तसाण कायठिति।
> अयराण इग पणिदिसु नरतिरियाण सगट्ठ भवा॥
> पुरिसत्त सण्णित्त सयपुहुत्त तु होइ अयराण।
> थी पलियसयपुहुत्त नपु सगत्त अणतद्धा॥

यदि अन्तरालगति मे उक्त गति आदि का व्यपदेश प्राप्त न हो तो इतनी कायस्थिति घटित नही होती है और उसके घटित न होने से महान दोप होगा। क्योकि उस समय मे (विग्रहगति मे) इन्द्रिय आदि तो होती नही हैं। इसलिये यह समझना चाहिये कि सप्रभेद इन पाच मार्गणा वाले जीवो के विग्रहगति में तथा केवली अवस्था मे प्राप्त केवलज्ञान, केवलदर्शन और यथाख्यातसयम मार्गणाओ मे

कार्मण काययोग होता है। अन्यत्र विवक्षा मे सद्भाव, असद्भाव समझना चाहिये। जिन मार्गणाओ मे कार्मण काययोग नही पाया जाता है, उनके नाम इस प्रकार है—चक्षुदर्शन, मनपर्यायज्ञान, विभगज्ञान, आहारक मार्गणा।

चक्षुदर्शनमार्गणा मे कार्मणकाययोग न मानने का कारण यह है कि कार्मणकाययोग विग्रहगति मे होता है, लेकिन वहाँ चक्षुदर्शन का अभाव है। यद्यपि लब्धि की अपेक्षा वहाँ भी चक्षुदर्शन पाया जाता है, लेकिन उसका यहाँ विचार नही किया जा सकता है। क्योकि लब्धि-अपर्याप्तक जीवो के मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन उपयोग होते है। मनपर्यायज्ञान सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्यो मे पाया जाता है तथा विभगज्ञान पर्याप्तक सज्ञी के होता है, अत उस समय कार्मणकाययोग सभव नही है। आहारक और कार्मणकाययोग मे विरोध होने से आहारकमार्गणा मे भी कार्मणकाययोग नही पाया जाता है।

पूर्वोक्त के अतिरिक्त जिन मार्गणाओ मे कार्मणकाययोग यथासभव पाया जाता है, उनके नाम इस प्रकार है—कषायचतुष्क, लेश्याषट्क, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, मति, श्रुत, अवधिज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, भव्य, अभव्य, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि।

इस प्रकार से कार्मणकाययोग की सभवता के बारे मे विचार करने के पश्चात् अब काययोग के अन्य भेदो के बारे मे विचार करते है—

'मणणाणविभगेसु मीस उरलपि न सभवइ'— अर्थात् ज्ञानमार्गणा के मनपर्यायज्ञान और विभगज्ञान इन दो भेदो मे कार्मणकाययोग के साथ औदारिकमिश्र काययोग भी नही होता है। क्योकि औदारिकमिश्र मनुष्य, तिर्यंचो को अपर्याप्त अवस्था मे पाया जाता है। परन्तु वहाँ ये दोनो ज्ञान नही होते है और मनपर्यायज्ञान द्रव्य एव भाव से सयमी साधु को ही होता है और वह भी पर्याप्त अवस्था मे।

विभगज्ञान मनुष्य तिर्यचो को अपर्याप्त अवस्था में उत्पन्न ही नही होता है। यही बात देव और नारको के लिये भी समझना चाहिये कि भवधारणीय शरीर वक्रिय होने से उनमें भी औदारिकमिश्र और औदारिक काययोग नही होते है तथा गाथा का द्वितीय पादगत 'अपि' शब्द बहुलार्थक होने से यह अर्थ समझना चाहिये कि चक्षुदर्शन और अनाहारक मार्गणा मे औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र यह तीनो काययोग नही होते है।

अनाहारक और चक्षुदर्शन मे औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र तीनो काययोग न मानने का कारण यह है कि अनाहारक अवस्था विग्रहगति मे पाई जाती है और उस समय सिर्फ कार्मण काययोग होता है किन्तु अन्य कोई औदारिक आदि शरीर नही होते है। औदारिक आदि शरीर तो शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने के पश्चात् बनते हे और जब बनते है तब कार्मण और औदारिक आदि शरीरो की मिश्र अवस्था सभव है, इससे पूर्व नही। इसीलिये अनाहारक मार्गणा मे औदारिकमिश्र आदि तीनो काययोग नही माने जाते है तथा चक्षुदर्शन में औदारिकमिश्र आदि तीनो काययोग न मानने का कारण यह है कि चक्षुदर्शन अपर्याप्त दशा मे नही पाया जाता है। अत ये अपर्याप्तदशाभावी औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र काययोग भी उसमे सभव नही है।

कदाचित् यह कहा जाये कि अपर्याप्त अवस्था मे इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन जाने के बाद चक्षुदर्शन मान लिया जाये तो उसमे अपर्याप्त अवस्थाभावी औदारिकमिश्र काययोग का अभाव कैसे माना जा सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि पूर्व मे गाथा ७ के प्रसग मे मतान्तर का उल्लेख किया है। जो अपर्याप्त अवस्था मे शरीरपर्याप्ति पूर्ण न हो जाने तक मिश्रयोग मानता है और हो जाने के बाद नही मानता है। इस मत के अनुसार अपर्याप्त अवस्था मे जब चक्षुदर्शन होता है, तब मिश्रयोग नही होता है, जिससे कि चक्षुदर्शन मे मिश्रयोग नही मानना ठीक है।

'केवल थावर · · न सभवइ' अर्थात् केवलज्ञान, केवल-दर्शन और उसकी सहभावी यथाख्यातचारित्र इन तीन मार्गणाओ मे तथा वायुकाय को छोडकर पृथ्वी, अप्, तेज और वनस्पतिकाय इन चार स्थावरो और विगले—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन दस मार्गणाओ मे वैक्रिय और वैक्रियमिश्र यह दो काययोग नही होते है। इसका कारण यह है कि लब्धिप्रयोग मे प्रमाद कारण है और सातवे गुणस्थान से आगे किसी भी गुणस्थान मे लब्धिप्रयोग नही होता है, जिससे केवलद्विक और यथाख्यातसयममार्गणा मे वैक्रियद्विक नही होते है तथा वायुकायिक जीवो के अतिरिक्त शेष पृथ्वीकायिक आदि स्थावरचतुष्क आदि मे लब्धि होती ही नही है, जिससे उनमे वैक्रिय-द्विक काययोग सभव नही है। इन सब कारणो से केवलद्विक आदि दस मार्गणाओ मे वैक्रियद्विक काययोग पाये जाने का निषेध किया है।

अब आहारकद्विक काययोगो का विचार करते है कि आहारक-द्विक—आहारक और आहारकमिश्र यह दोनो काययोग आहारकलब्धि-सपन्न चतुर्दश पूर्वधर सयत मुनि के सिवाय अन्य किसी को नही होते हैं, अत 'जायइ चोद्दसपुव्विस्स' यह विशेषण जिन मार्गणाओ में घटित हो ऐसी मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति इत्यादि मागणाओ मे स्वबुद्धि से योजना कर लेना चाहिए। अर्थात् जिन मार्गणाओ मे चौदह पूर्वो का अध्ययन सभव हो, उन मार्गणाओ मे आहारक और आहारकमिश्रकाय योग मानना चाहिये, शेष मार्गणास्थानो मे नही। जैसे कि पूर्वोक्त मनुष्यगति, पचेन्द्रिय के उपरान्त त्रसकाय, पुरुष, नपुसक वेद, ये दो वेद आदि।

जिन मार्गणाओ मे आहारकद्विक काययोग सभव है, उनके नाम इस प्रकार है—गतिमार्गणा मे—मनुष्यगति, इन्द्रियमार्गणा मे—पचेन्द्रिय, कायमार्गणा मे–त्रस, योगमार्गणा मे–तीनो योग, वेदमार्गणा मे—पुरुष नपु सक वेद, कषायमार्गणा मे—चारो कषाय, ज्ञानमार्गणा मे—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय ज्ञान, सयममार्गणा में—सामायिक

कार्मणयोग तो अपान्तरगति और उत्पत्ति के प्रथम समय मे, औदारिकमिश्र अपर्याप्त अवस्था मे और औदारिक, मनोयोगचतुष्टय, वचनयोगचतुष्टय पर्याप्त अवस्था मे तथा किन्ही किन्ही तिर्यंचो में वैक्रियलब्धि होने से तदपेक्षा वैक्रिय और वैक्रियमिश्र होने मे तेरह योग होते है।[1]

आहारकद्विक योग सर्वविरत चतुर्दशपूर्वधर को होते है, लेकिन तिर्यचगति मे सर्वविरत चारित्र सभव नही है। अत उसमे आहारक-द्विक—आहारक और आहारकमिश्र काययोग नही होते है।

मति-अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभगज्ञान, अविरत सम्यग्दृष्टि, सासादन, अभव्य और मिथ्यात्व इन सात मार्गणाओ मे आहारकद्विक के बिना जो तेरह योग माने गये है, उनमे से मनोयोगचतुष्टय, वचन-योगचतुष्टय, औदारिक और वैक्रिय ये दस योग तो पर्याप्त अवस्था मे, कार्मण काययोग विग्रहगति और उत्पत्ति के प्रथम समय मे और औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र ये दो योग अपर्याप्त अवस्था मे होते है।

अब शेप रही औपशमिक सम्यक्त्व और स्त्रीवेद इन दो मार्गणाओ मे आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग मानने को कारण सहित स्पष्ट करते है।

औपशमिक सम्यक्त्व मे आहारकद्विक योग न मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

प्रश्न—तिर्यंचगति आदि उक्त मार्गणाओ मे तो चौदह पूर्व के अध्ययन का अभाव होने से आहारकद्विक का न होना माना जा सकता है, परन्तु औपशमिक सम्यक्त्व तो चौथे से लेकर ग्यारहवें

---

१ दिगम्बर साहित्य मे तिर्यंचगति मे ग्यारह योग माने गये है—

वेउव्वाहार दुगूण तिरिए। 　　　　दि पचसग्रह ४/४४

लेकिन यह कथन सामान्य तिर्यंच की विवक्षा से किया गया समझना चाहिए।

गुणस्थान तक होता है और इनमे छठे से लेकर ग्यारहवे तक के गुण-स्थानो मे सर्वविरति होती है तो वहाँ आहारकद्विक क्यो नही होते है ?

उत्तर—उपशम सम्यक्त्व के दो प्रकार है—ग्रंथि-भेद-जन्य, उपशम-श्रेणी वाला। इनमे से अनादि मिथ्यात्वी जो पहले गुणस्थान मे तीन करण करके ग्रंथि-भेद-जन्य उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उस समय तो चौदह पूर्व का अभ्यास होता ही नही है। जिसमे आहारकद्विक हो सके और जो श्रमणपर्याय मे चारित्र-मोहनीय की उपशमना करने के लिए उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद तत्काल ही चारित्र-मोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करते है, वे कोई लब्धि हो तब भी उसका प्रयोग नही करते है, इसलिए तब भी उनको आहारकद्विक नही होते है।

साराश यह है कि उपशम-श्रेणी पर आरूढ जीव श्रेणी मे प्रमाद का अभाव होने मे आहारक शरीर करता ही नही है। क्योकि आहारक शरीर का प्रारम्भ करने वाला लब्धि-प्रयोग के समय उत्सुकतावश प्रमादयुक्त होता है और आहारक काययोग मे जो विद्यमान है, वह स्वभाव से ही उपशम-श्रेणि माडता नही। इस प्रकार परस्पर विरोध होने से उपशम सम्यक्त्व मे आहारकद्विक योग नही माने जाते है।

आहारकद्विक के सिवाय शेष रहे मनोयोग-चतुष्टय आदि तेरह योग औपशमिक सम्यक्त्व मे इस प्रकार समझना चाहिए कि मनोयोग-चतुष्टय, वचनयोग-चतुष्टय, औदारिक और वैक्रिय, यह दस योग पर्याप्त अवस्था मे और औदारिक-मिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण अपर्याप्त अवस्था मे पाये जाते है। वैक्रिय और वैक्रियमिश्र योग देवो की अपेक्षा से समझना चाहिए।

यहाँ कदाचित् यह कहा जाये कि उपशमश्रेणि मे आयु क्षय होने पर सर्वार्थसिद्धि विमान मे उत्पन्न होने से वहाँ अपर्याप्त अवस्था मे उपशम सम्यक्त्व होता है। अत उस अपेक्षा से कार्मण और वैक्रिय-

मिश्र योग माना जा सकता है, औदारिकमिश्र नही। तो इसका उत्तर यह है कि कार्मग्रथिक मतानुसार मनुष्य तिर्यंच को अपर्याप्त अवस्था मे और केवलिसमुद्घात इन तीन स्थितियो मे औदारिकमिश्र योग होता है। लेकिन केवली को उपशम सम्यक्त्व होता नही और मनुष्य तिर्यंच अपर्याप्त अवस्था मे नवीन सम्यक्त्व प्राप्त करते नही एव श्रेणिप्राप्त जीव मर कर देवगति मे जाते है। लेकिन सिद्धान्त मे उत्तर वक्रिय करते समय मनुष्य और तिर्यंचो को प्रारभ काल मे औदारिकमिश्र योग होता है और उस समय यदि जीव नवीन सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उसकी अपेक्षा औपशमिक सम्यक्त्व मे औदारिकमिश्र काययोग माना जा सकता है। इस सैद्धान्तिक दृष्टि से औपशमिक सम्यक्त्व मे औदारिकमिश्र योग मानने का यहाँ उल्लेख किया है।

स्त्रीवेद मे आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग इस प्रकार सभव है—

मनोयोग-चतुष्क, वचनयोग-चतुष्क, वैक्रियद्विक और औदारिक, ये ग्यारह योग मनुष्य, तिर्यंच स्त्री को पर्याप्त अवस्था मे, वैक्रियमिश्र काययोग देव स्त्री को अपर्याप्त अवस्था मे और कार्मण काययोग पर्याप्त मनुष्य स्त्री को केवलिसमुद्घात अवस्था मे होता है।

स्त्रीवेद मे आहारकद्विक योग न मानने का कारण यह है कि सर्वविरति सभव होने पर भी स्त्री जाति को दृष्टिवाद—जिसमे चौदह पूर्व है—पढने का निषेध है। इस निषेप का कारण द्रव्यरूप स्त्रीवेद जानना चाहिए, भावरूप स्त्रीवेद नही। क्योकि यहाँ इसी प्रकार की विवक्षा है। द्रव्यवेद का मतलब बाह्य आकार है। आहारकद्विक चौदह पूर्वधारी को होते है और स्त्रियो को दृष्टिवाद पढने का निषेध होने मे उनको चौदह पूर्व का अभ्यास नही होता है तो आहारकद्विक नही हो मकते है। इसी कारण स्त्रीवेद मे आहारकद्विक काययोग मानने का निषेध किया है।

आहार ग्रहण मे कारण रूप वनते है। किन्तु स्वय अपने प्रथम समय मे कारण रूप नही बन सकते है। क्योकि उस समय तो वे स्वय कार्य रूप है। इसलिये पहले समय मे तो कार्मण काययोग द्वारा ही आहार ग्रहण होता है, जिससे आहारकमार्गणा मे कार्मण काययोग भी माना जाता है। अर्थात् उत्पत्ति के प्रथम समय मे कार्मण काययोग के सिवाय अन्य कोई योग न होने से कार्मण काययोग द्वारा ही आहारकत्व समझना चाहिए।

एकेन्द्रियमार्गणा मे मनोयोग और वचनयोग के चार-चार भेद तथा आहारकद्विक के सिवाय शेष औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक और कार्मण यह पाच योग होते है। यह कथन वायुकायिक एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योकि वायुकायिक जीव एकेन्द्रिय होते है और उनमे से कुछ एक पर्याप्त वादर वायुकायिक जीव वैक्रियलब्धि सपन्न भी होते है। जिससे वे वैक्रियद्विक के अधिकारी माने जाते हैं। यद्यपि पृथ्वी, जल, तेज और वनस्पतिकायिक ये चार स्थावर भी एकेन्द्रिय है किन्तु उनमे लब्धि नही होती है। जिससे उनमे एकेन्द्रिय मे पाये जाने वाले पाच योगो मे से वैक्रियद्विक के सिवाय शेष कार्मण और औदारिकद्विक ये तीन योग होते है। यदि एकेन्द्रियमार्गणा मे तीन योग मानते तो वायुकायिक जीवो का समावेश नही हो पाता, इसलिए वायुकायिक जीवो के एकेन्द्रिय होने और उनमे वैक्रियलब्धि की सभावना से वैक्रियद्विक को मिलाने से एकेन्द्रियमार्गणा मे पाच योग माने जाते है। इनमे से कार्मणकाययोग विग्रहगति और उत्पत्ति के प्रथम समय मे, औदारिकमिश्र काययोग उत्पत्ति के प्रथम क्षण को छोडकर शेप अपर्याप्त अवस्था मे, औदारिक योग पर्याप्त अवस्था मे, वैक्रियमिश्र वैक्रिय शरीर वनाते समय और बनाने के वाद वैक्रिय काययोग होता है। शेप पृथ्वी आदि चार स्थावर एकेन्द्रियो मे वैक्रियद्विक के अतिरिक्त शेप तीन योगो के होने की प्रक्रिया भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए कि कार्मण विग्रहगति और उत्पत्ति के प्रथम

शेष तेरह योग होते है। क्योकि कार्मण काययोग विग्रहगति तथा उत्पत्ति के प्रथम समय मे और औदारिकमिश्र अपर्याप्त अवस्था मे होता है और उस समय मे पर्याप्त अवस्थाभावी मनोयोग, सयम आदि का अभाव है। इसलिए ये दो योग नही होते हैं।

चक्षुदर्शन मार्गणा मे कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र इन चार के सिवाय शेष ग्यारह योग होते है।

परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय सयम इन दो सयम मार्गणाओ मे कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक इन छह योगो के बिना मनोयोग और वचनयोग के चार-चार भेद और औदारिक काययोग ये नौ योग होते है। इसका कारण यह कि सयम पर्याप्त अवस्था मे होता है। इसलिए अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण और औदारिक मिश्रयोग इनमे नही पाये जाते है तथा वैक्रिय और वैक्रियमिश्र इन दो योगो के न होने का कारण यह है कि वैक्रियद्विक लब्धिप्रयोग करने वाले मनुष्य को होते है और लब्धिप्रयोग मे औत्सुक्य व प्रमाद सभव है, किन्तु परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय सयम प्रमाददशा मे नही होते है। इन दोनो सयम के धारी अप्रमादी होते है। अप्रमादी होने से लब्धि का प्रयोग नही करते है। अत वैक्रियद्विक योग इन दोनो सयमो मे नही होते है। आहारक और आहारकमिश्र यह दो योग भी इन दोनो सयमो मे इसलिए नही पाये जाते है कि आहारक और आहारकमिश्र ये दो योग चतुर्दश पूर्वधर प्रमत्त मुनि को ही होते है, किन्तु परिहारविशुद्धि सयमी कुछ कम दस पूर्व का पाठी होता है और सूक्ष्मसपराय सयमी यद्यपि चतुर्दश पूर्वधर होता है लेकिन अप्रमत्त है। अत इन दोनो सयमो मे आहारकद्विक योग नही माने है।

इस प्रकार कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक ये छह योग सभव नही होने से शेष रहे मनोयोग और वचनयोग के

चार-चार और औदारिक काययोग एक, कुल मिलाकर नौ योग परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय सयम मे होते है।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि मे परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय सयम मे प्राप्त पूर्वोक्त नौ योगो के साथ वैक्रिय योग को मिलाने पर दस योग होते है। इसमे वैक्रिययोग मिलाने का कारण यह है कि देव और नारक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाले होते हैं तथा इस मिश्र सम्यक्त्व की यह विशेषता है कि इसमे मृत्यु नही होती है, जिससे अपर्याप्त अवस्था मे यह नही पाया जाता है। इसलिए अपर्याप्त दशाभावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीन योग नही होते है तथा चौदहपूर्व का ज्ञान भी सभव न होने से आहारकद्विक योग भी नही होते है। इसी कारण कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकद्विक इन पाँच योगो को छोडकर शेप दस योग मिश्र सम्यक्त्व मे माने है।

परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय सयम मे प्राप्त पूर्वोक्त नौ योगो मे वैक्रियद्विक योग को मिलाने पर देशविरत मार्गणा मे ग्यारह योग होते हैं। वैक्रियद्विक को देशविरत सयम मे मानने का कारण यह है कि वैक्रियलब्धि की सभावना वहाँ है। अबड आदि श्रावको द्वारा वैक्रियलब्धि से वैक्रिय शरीर बनाये जाने का उल्लेख आगमो मे देखने को मिलता है। किन्तु श्रावक के चतुर्दश पूर्वधर नही होने से उसमे आहारकद्विक योग तथा व्रत का पालन पर्याप्त अवस्था मे सभव होने से औदारिकमिश्र और कार्मण योग नही माने जाते है। इसलिए आहारकद्विक, औदारिकमिश्र और कार्मण इन चार योगो के सिवाय शेप ग्यारह योग देशविरत मार्गणा में माने गये हैं।

यथाख्यातसयम मे भी उपर्युक्त नौ योगो मे औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग के मिलाने पर ग्यारह योग होते हे। इन दोनो योगों का ग्रहण केवलिसमुद्घात की अपेक्षा किया गया है। क्योकि केवलिसमुद्घात के दूसरे, छठे और सातवे समय मे औदारिकमिश्र और ती[illegible]

चौथे और पाचवे समय मे कार्मणयोग होता है। आहारकद्विक और वैक्रियद्विक इन चार योगो को यथाख्यातसयम मे न मानने का कारण यह है कि ये चारो प्रमाद सहचारी है किन्तु यह चारित्र अप्रमाद अवस्थाभावी ग्यारहवे से लेकर चौदहवे तक के चार गुणस्थानो मे होता है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन मार्गणाओ मे सत्यमनोयोग, असत्यामृषामनोयोग, सत्यवचनयोग, असत्यामृषावचनयोग, औदारिक, औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग यह सात योग होते है। इसका कारण यह है कि सत्य और असत्यामृपा मनोयोग मनपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देवो के मन द्वारा शका पूछने पर उसका मन द्वारा उत्तर देते समय तथा यही दोनो वचनयोग देशना देते समय होते है तथा सयोगिकेवली को अष्ट सामयिक केवलिसमुद्घात के दूसरे से सातवे तक छह समयो को छोडकर औदारिकयोग तो सदैव रहता ही है तथा औदारिकमिश्र केवलिसमुद्घात के दूसरे, छठे और सातवे समय मे तथा कार्मण योग तीसरे, चौथे, पाचवे समय मे होता है। इसलिए केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो मार्गणा मे सत्य, असत्यामृपा मनोयोग, सत्य, असत्यामृपा वचनयोग, औदारिक, औदारिकमिश्र और कार्मण यह सात योग माने जाते है।

असज्ञी मार्गणा मे औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, कार्मण और असत्यामृषावचनयोग यह छह योग होते है। क्योकि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और समूच्छिम पचेन्द्रिय ये सभी जीव असज्ञी ही होते है। इसलिए औदारिकद्विक आदि कार्मण पर्यन्त पाच योग तो वायुकायिक व एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा तथा द्वीन्द्रियादि मे वचनयोग की साधन भापालब्धि होने तथा उनकी भापा असत्यामृषा रूप होने से असत्यामृपा वचनयोग होता है। इसी कारण असज्ञी मार्गणा मे छह योग कहे गये है।

अनाहारकमार्गणा मे एक कार्मण काययोग ही होता है। यहाँ

यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि अनाहारक अवस्था में कार्मणयोग होना ही चाहिए। क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में अनाहारक अवस्था होने पर भी किसी प्रकार का योग नहीं रहता है और यह भी नियम नहीं है कि कार्मणयोग के समय अनाहारक अवस्था अवश्य ही होती है। क्योंकि उत्पत्ति के क्षण में विग्रहगति के समय कार्मणयोग होने पर भी जीव अनाहारक नहीं है, वह कार्मणयोग के द्वारा ही आहार लेता है। लेकिन यह नियम है कि जीव की जब अनाहारक अवस्था हो तब कार्मण काययोग के सिवाय अन्य कोई योग नहीं होता है। इसी अपेक्षा से अनाहारक मार्गणा में सिर्फ कार्मण काययोग माना जाता है। देवगति और नरकगति मार्गणा में औदारिक-द्विक, आहारकद्विक कुल चार योगों को छोड़कर शेष ग्यारह योग होते हैं। औदारिकद्विक, आहारकद्विक न मानने का कारण यह है कि देव व नारकों के भवस्वभाव से विरति न होने तथा विरति के अभाव में चतुर्दश पूर्व का ज्ञान न होने से आहारकद्विक योग होते ही नहीं हैं तथा देव व नारकों का भवप्रत्ययिक वैक्रिय शरीर होता है, अतएव औदारिकद्विक संभव नहीं है। इसीलिए देव नारकों के आहारकद्विक और औदारिकद्विक इन चार योगों के सिवाय शेष ग्यारह योग माने जाते हैं। उन ग्यारह योगों के नाम इस प्रकार हैं—

मनोयोगचतुष्क, वचनयोगचतुष्क वैक्रियद्विक, कार्मणयोग। इनमें से कार्मण अन्तरालगति और उत्पत्ति के प्रथम समय में, वैक्रिय-मिश्र अपर्याप्त अवस्था में तथा मनोयोगचतुष्क, वचनयोगचतुष्क और वैक्रिय काययोग पर्याप्त दशा में पाये जाते हैं।[1]

---

१ दिगम्बर कार्मग्रंथिकों का मार्गणाओं में योगसम्बन्धी कथन परिशिष्ट में देखिये।

इस प्रकार मार्गणास्थानो के बासठ उत्तर भेदो मे सभव योगो का कथन करने के पश्चात् अब योगो की तरह उनमे उपयोगो की सख्या बतलाते है ।

मार्गणास्थानो मे उपयोग

मणुयगईए बारस मणकेवलवज्जिया नवन्नासु ।
इगिथावरेसु तिन्नि उ चउ विगले बार तससगले ॥१३॥
जोए वेए सन्नी आहारगभव्वसुक्कलेसासु ।
बारस सजमसमे नव दस लेसाकसाएसु ॥१४॥

शब्दार्थ—मणुयगईए—मनुष्यगति मे, बारस—बारह, मणकेवलवज्जिया—मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक से रहित, नव—नौ, अन्नासु—अन्य गतियो मे, इगिथावरेसु—एकेन्द्रिय और स्थावरो मे, तिन्न— तीन, उ—और, चउ—चार विगले—विकलेन्द्रियो मे, बार—बारह, तस—त्रस, सगले—सकलेन्द्रियवाले पचेन्द्रिय में।

जोए—योग में, वेए—वेद मे, सन्नी—सज्ञी, आहारग—आहारक, भव्व—भव्य, सुक्कलेसासु—शुक्ललेश्या में, बारस—बारह, सजम—सयम, समे—सम्यक्त्व मार्गणा मे, नव—नौ, दस—दस, लेसा—लेश्या (शुक्ल के अतिरिक्त), कसाएसु—कपाय मार्गणा में ।

गाथार्थ—मनुष्यगति मे बारह उपयोग तथा शेष गतियो में मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक से रहित (छोडकर) नौ उपयोग होते है । एकेन्द्रिय और स्थावरो मे तीन, विकलेन्द्रियो मे चार, और पचेन्द्रिय मार्गणा मे बारह उपयोग होते है ।

योग, वेद, सज्ञी, आहारक, भव्य और शुक्ललेश्या मार्गणा मे बारह उपयोग तथा सयम और सम्यक्त्व मार्गणा मे नौ एव लेश्या और कपाय मार्गणा मे दस उपयोग होते हैं ।

विशेषार्थ—उपयोग का लक्षण और उसके बारह भेदो के नाम

तथा मार्गणास्थानो के लक्षण, भेद आदि पहले बताए जा चुके है। अब उन उपयोग भेदो को मार्गणास्थानो में घटित करते है कि प्रत्येक मार्गणा मे कितने उपयोग होते है। जिसका प्रारम्भ मनुष्यगति से किया है।

'मणुयगईए बारस'—मनुष्यगति मे सभी बारह उपयोग होते है। मनुष्यगति से उपयोग विचार का प्रारम्भ करने का कारण यह है कि मनुष्यगति पहले से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक पाई जाती है और उसमे मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, देशविरति, केवलज्ञानी आदि सभी जीवो का ग्रहण होने से बारह उपयोग माने गये है।

यह बात तो हुई मनुष्यगति मे सभव उपयोगविषयक, लेकिन 'अन्नसु'—अन्य गतियो अर्थात् मनुष्यगति से शेष रही देव, तिर्यंच और नरकगति मे—'मणकेवलवज्जिया नव' मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन इन तीन के सिवाय शेष नौ उपयोग होते है। इन तीन मार्गणाओ मे मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक उपयोग इसलिए नही माने जाते है कि ये उपयोग सर्वविरतिसापेक्ष है। लेकिन देवगत्ति, तिर्यचगति और नरकगति मे सर्वविरति सभव नही है। इसलिए उक्त तीन उपयोगो को छोडकर शेष नौ उपयोग माने जाते है।

'इगिथावरेसु तिन्न'—इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणा के भेद क्रमश एकेन्दिय और पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति रूप पाच स्थावरो मे तथा उपलक्षण से द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय इन आठ मार्गणाओ मे मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन उपयोग होते है। उपलक्षण मे द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय को ग्रहण करने का कारण यह है कि इनमे भी एकेन्द्रिय जीवो की तरह चक्षुरिन्द्रिय नही होती है। इसलिए चक्षुरिन्द्रिय सापेक्ष उपयोग भी इनमे नही पाया जाता है तथा सम्यक्त्व न होने से मतिज्ञान आदि पाच ज्ञान, अवधि व केवलदर्शन

और तथाविध योग्यता का अभाव होने से विभगज्ञान यह आठ उपयोग भी न पाये जाने से मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन ही उपयोग होते है ।

'चउ विगले'—चतुरिन्द्रिय और उपलक्षण से असज्ञी पचेन्द्रिय जीवों मे चक्षु इन्द्रिय होने मे एकेन्द्रिय मार्गणा मे पाये जाने वाले मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, अचक्षुदर्शन के साथ चक्षुदर्शन को मिलाने से चार उपयोग पाये जाते है । चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे सम्यक्त्व न होने से सम्यक्त्व सहचारी मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय और केवल ये पाच ज्ञान तथा अवधि व केवलदर्शन और तथाविध योग्यता न होने से विभगज्ञान भी, इस प्रकार आठ उपयोग न पाये जाने से चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे अज्ञानद्विक—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और दर्शनद्विक—अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन कुल मिलाकर चार उपयोग होते है ।

'तस सगले वार'—त्रसकाय और सकल—सकलेन्द्रिय-पचेन्द्रिय मार्गणा मे सभी बारह उपयोग होते है । त्रस और पचेन्द्रिय जीवो मे मनुष्य भी है । अत मनुष्यगति के समान सभी बारह उपयोग पाये जाने के कारण को यहाँ भी समझ लेना चाहिए तथा इसी प्रकार से 'जोए वेए ' इत्यादि अर्थात् मन, वचन, काय योग, स्त्री, पुरुष, नपु सक वेद, सज्ञी, आहारक, भव्य और शुक्ललेश्या इन दस मार्गणाओ मे भी बारह उपयोग पाये जाते है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मन, वचन, काय यह तीन योग, शुक्ललेश्या और आहारकत्व यह पाच मार्गणाये तेरहवें गुणस्थान तक पाई जाती है। सयोगिकेवली भगवान मनोयोग का व्यापार मन द्वारा प्रश्नोत्तर के समय, वचनयोग का व्यापार देशना के समय और औदारिक काययोग का व्यापार विहार आदि शारीरिक क्रियाओ के समय करते है। इसलिए मनोयोग आदि तीनो योग तेरहवे गुणस्थान तक माने है । शुक्ललेश्या

सामान्य से सभी मनुष्यो में पाई जाती है और गुणस्थानो की अपेक्षा अपूर्वकरणादि सयोगिकेवली पर्यन्त गुणस्थानो मे। अत शुक्ललेश्या तेरहवे गुणस्थान तक मानी है।

प्रत्येक जीव जन्म से लेकर जीवनपर्यन्त लोमाहार आदि आहारो में से किसी न किसी आहार को ग्रहण करता रहता है और यह क्रम तेरहवे गुणस्थान तक चलता है। क्योंकि तेरहवे गुणस्थान तक जीवन-मुक्त दशा नही है। उक्त मार्गणाओ के अतिरिक्त तीन वेद, सज्ञित्व और भव्यत्व मार्गणाये चौदहवें गुणस्थान तक पाई जाती है।

इन योग, वेद आदि मार्गणाओ में मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि आदि सभी जीवो का ग्रहण होने से बारह उपयोग माने जाते हैं और सज्ञी मार्गणा के असज्ञी भेद मे मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान तथा चक्षु अचक्षु-दर्शन यह चार उपयोग होते हैं।

वेदत्रिक मार्गणाओ मे माने गये बारह उपयोगो मे केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो उपयोगो का समावेश है। इनको द्रव्यवेद की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योंकि अभिलाप रूप भाववेद तो नौवे गुणस्थान तक ही होता है। यही दृष्टि वेदो को चौदहवे गुणस्थान तक मानने के लिए भी जानना कि द्रव्यवेद की अपेक्षा सभी चौदह गुण-स्थान वेदमार्गणा मे होते हैं किन्तु भाववेद मे आदि के नौ गुणस्थान जानना चाहिए।

'सजमसमे नव' अर्थात् पूर्ण सयम—यथाख्यातसयम और पूर्ण सम्य-क्त्व—क्षायिकसम्यक्त्व इन दो मार्गणाओ मे मिथ्यात्वोदय सहभावी मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभगज्ञान उपयोग न होने से शेष मतिज्ञान आदि नौ उपयोग होते हैं। क्योंकि क्षायिकसम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व का सर्वथा अभाव ही होता है। मिथ्यात्व के पूर्ण रूप से क्षय होने पर ही क्षायिकसम्यक्त्व होता है और यथाख्यातसंयम यद्यपि ग्यारह से चौदहवें गुणस्थान तक पाया जाता है और ग्यारहवें गुणस्थान में मिथ्यात्व भी है लेकिन वह सत्तागत है, उदयगत नहीं। इसलिए

इन दोनो मार्गणाओ मे अज्ञानत्रिक उपयोग नही होते है और शेष प्राप्त उपयोगो को इस प्रकार जानना चाहिए—

छद्मस्थ अवस्था मे पहले चार ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनपर्यायज्ञान तथा चक्षुदर्शन, अचक्षु दर्शन, और अवधिदर्शन यह तीन दर्शन कुल सात उपयोग तथा केवली भगवन्तो के केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं। इस प्रकार उक्त सात और केवलद्विक को मिलाने से कुल नौ उपयोग होते है।

शुक्ललेश्यामार्गणा के उपयोगो का पृथक् से निर्देश किया है अत उससे शेष रही कृष्ण, नील, कापोत, तेजो और पद्म, पाच लेश्या तथा कषायचतुष्क—क्रोध, मान, माया, लोभ इन नौ मार्गणाओ मे केवलज्ञान और केवलदर्शन के सिवाय मतिज्ञान आदि दस उपयोग होते हैं। इसका कारण यह है कि कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याये छठे गुणस्थान तक, तेज और पद्म लेश्याये सातवे गुणस्थान तक होती है तथा क्रोधादि कषायचतुष्क का उदय दसवे गुणस्थान तक पाया जाता है और ये गुणस्थान क्षायोपशमिक भावो की अपेक्षा रखते है और केवलद्विक उपयोग कृष्णादि लेश्याओ और क्रोधादि के रहने पर नही होते है किन्तु अपने-अपने आवरणकर्म के नि शेष रूप से क्षय से होने वाले है और तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान मे पाये जाते है। इसलिए कृष्णादि नौ मार्गणाओ मे दस उपयोग माने है।

इस प्रकार से पृथक्-पृथक् नामोल्लेखपूर्वक कुछ एक मार्गणाओ मे सभव उपयोगो का निर्देश करने के बाद अब शेष रही मार्गणाओ मे उपयोगो को जानने के लिए सूत्र बतलाते है—

सम्मत्तकारणेंहि मिच्छनिमित्ता न होंति उवओगा।
केवलदुगेण सेसा सतेव अचक्खुचक्खूसु ॥१५॥

शब्दार्थ—सम्मत्तकारणेंहि—सम्यक्त्वकारणक-निमित्तक उपयोगो के साथ मिच्छनिमित्ता—मिथ्यात्वनिमित्तक, न होंति—नही होते है, उवओगा—

उपयोग, केवलदुगेण—केवलद्विक के साथ, सेसा—शेष, संतेव - होते ही है, अचक्खुचक्खुसु—अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन मे (के साथ)।

गाथार्थ—सम्यक्त्वनिमित्तक उपयोगो के साथ मिथ्यात्व-निमित्तक उपयोग तथा केवलद्विक के साथ अन्य कोई उपयोग नही होते है किन्तु अचक्षुदर्शन और चक्षुदर्शन के साथ उभयनिमित्तक (सम्यक्त्व, मिथ्यात्व निमित्तक) उपयोग होते ही है।

विशेषार्थ—गाथा मे सहभावी उपयोगो के कारण को स्पष्ट किया है।

सम्यक्त्व निमित्त-कारण है जिनका ऐसे मतिज्ञान आदि उपयोगो के साथ मिथ्यात्वनिमित्तक मति-अज्ञान आदि उपयोग नही होते है तथा 'केवलदुगेण सेसा न होंति उवओगा' केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन के साथ मिथ्यात्वनिमित्तक उपयोग तो हो ही नही सकते, किन्तु सम्यक्त्वनिमित्तको मे से भी छाद्मस्थिक मतिज्ञान आदि कोई भी उपयोग नही होते है। क्योकि देशज्ञान और देशदर्शन का विच्छेद होने पर ही पूर्ण- केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होते है। जैसा कि कहा—

उप्पन्नंमि अणंते नट्ठंमि य छाउमत्थिए नाणे।[1]

अर्थात्—छाद्मस्थिक ज्ञान और दर्शनो के नष्ट होने पर अनन्त ज्ञान-दर्शन—केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होते है।

छाद्मस्थिक ज्ञान-दर्शनो के नाश के पश्चात् केवल ज्ञान-दर्शन की उत्पत्ति होने को लेकर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है—

प्रश्न—मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन अपने-अपने आवरणो के यथायोग्य रीति से क्षयोपशम होने पर उत्पन्न होते है। अतः जब पूर्ण रूप से उनके आवरणो का क्षय हो तब चारित्रपरिणाम की तरह उनको भी पूर्ण रूप से उत्पन्न होना चाहिए, तो फिर केवल-

१ आवश्यकनिर्युक्ति ५३९

ज्ञान, और केवलदर्शन के होने पर मतिज्ञानादि का अभाव क्यो माना है ? जैसे चारित्रावरणीय का क्षयोपशम होने से सामायिक आदि चारित्र उत्पन्न होते है और चारित्रावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय होने पर यथाख्यातचारित्र उत्पन्न होता है, परन्तु उसकी उत्पत्ति होने पर भी सामायिक आदि चारित्रो का नाश नही होता है, इसी प्रकार केवलज्ञान की उत्पत्ति होने पर भी मतिज्ञानादि का नाश नही होना चाहिए।

उत्तर—केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर मतिज्ञानादि के नाश मानने का कारण यह है कि जैसे सूर्य के सामने गाढ बादलो का समूह आया हो तब भी इतना प्रकाश तो रहता ही है कि दिन और रात्रि का स्पष्ट विभाग मालूम हो सके तथा उस प्रकाश के सामने यदि चटाई की झोपडी हो तो उसके छिद्रो मे से छेदो के अनुरूप आया हुआ प्रकाश झोपडी में विद्यमान घट-पटादि पदार्थों को दिखाता है। किन्तु वह प्रकाश उस झोपडी का अपना नही है, बाहर मे विद्यमान सूर्य का है। अब यदि उस झोपडी को नष्ट कर दें और बादलो के हट जाने पर सूर्य पूर्ण रूप से प्रकाशित हो जाये तो वह घट-पटादि पदार्थों को पूर्णरूपेण प्रकाशित करता है।

इसी प्रकार गाढ केवलज्ञानावरण रूप बादलो से केवलज्ञान रूप सूर्य के आवृत्त होने पर भी जड-चेतन का स्पष्ट विभाग मालूम हो, ज्ञान का इतना प्रकाश तो उद्घाटित रहता ही है। उस प्रकाश को मतिज्ञानावरणादि आवरण आच्छादित करते हैं। उनके क्षयोपशम रूप यथायोग्य विवर-छिद्रो मे से निकला हुआ प्रकाश जीवादि पदार्थों का यथायोग्य रीति से बोध कराता है और क्षयोपशम के अनुरूप मति-ज्ञान आदि का नाम धारण करता है।

यहाँ चटाई की झोपडी के छेदो मे से आये हुए प्रकाश के सदृश मतिज्ञानावरणादि के क्षयोपशम रूप विवरो मे से आगत प्रकाश केवल-ज्ञान का ही है। अब यदि उन मतिज्ञानावरणादि आवरण रूप झोपडी

'सतेव अचक्खुचक्खुसू' अर्थात् चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और 'चक्खुसु' शब्द मे बहुवचन के निर्देश द्वारा अवधिदर्शन का भी ग्रहण करने से इन तीनो दर्शनो के साथ सम्यक्त्वनिमित्तक और मिथ्यात्व निमित्तक दोनो प्रकार के उपयोग होते है।[1]

उपर्युक्त नियमो के अनुसार अब शेष रहे मार्गणास्थानो मे उपयोगो को बतलाते है।

मति, श्रुत, अवधि और मनपर्याय ज्ञान, सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय चारित्र, क्षयोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व इन दस मार्गणाओ मे केवलद्विक और अज्ञानत्रिक के सिवाय शेष सात उपयोग होते है। इसका कारण यह है कि ये मार्गणाये चौथे से लेकर बारहवे गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थानो मे पाई जाती है। इसलिये इन मार्गणाओ मे मिथ्यात्व का अभाव होने से तीन अज्ञान— मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभगज्ञान नही होते है तथा इनमे क्षायोपशमिक भाव होते है। अत क्षायिक भाव रूप केवलद्विक— केवलज्ञान, केवलदर्शन यह दो उपयोग सभव नही है। इसीलिए अज्ञानत्रिक और केवलद्विक इन पाच उपयोगो के सिवाय तीन दर्शन— चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शन तथा चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यायज्ञान कुल सात उपयोग पाये जाते हैं।

बता सकते है। लेकिन पूर्व की तरह मतिज्ञानादि का कारण केवलज्ञानावरण मानें तो उस कारण के नष्ट होने से अनावृतप्रकाश मे पहले का प्रकाश समा जाता है, यानी मतिज्ञानादि ज्ञान हो ही नही सकते है। इसलिए अन्य आचार्यो के मत से पाच ज्ञान और उनके आवरण भिन्न-भिन्न है यह समझना चाहिये।

[1] चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन मे सम्यक्त्व, मिथ्यात्व निमित्तक सभी उपयोग होने का कथन सामान्य से समझना चाहिये। केवलद्विक उपयोग इनमे नही होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है

'सतेव अचक्खुचक्खूस्' अर्थात् चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और 'चक्खूसु' शब्द मे बहुवचन के निर्देश द्वारा अवधिदर्शन का भी ग्रहण करने से इन तीनो दर्शनो के साथ सम्यक्त्वनिमित्तक और मिथ्यात्व-निमित्तक दोनो प्रकार के उपयोग होते है।[1]

उपर्युक्त नियमो के अनुसार अब शेष रहे मार्गणास्थानो मे उपयोगो को बतलाते है।

मति, श्रुत, अवधि और मनपर्याय ज्ञान, सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय चारित्र, क्षयोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व इन दस मार्गणाओ मे केवलद्विक और अज्ञानत्रिक के सिवाय शेष सात उपयोग होते है। इसका कारण यह है कि ये मार्गणाये चौथे से लेकर बारहवे गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थानो मे पाई जाती है। इसलिये इन मार्गणाओ मे मिथ्यात्व का अभाव होने से तीन अज्ञान— मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभगज्ञान नही होते हैं तथा इनमे क्षायोपशमिक भाव होते है। अत क्षायिक भाव रूप केवलद्विक— केवलज्ञान, केवलदर्शन यह दो उपयोग सभव नही है। इसीलिए अज्ञानत्रिक और केवलद्विक इन पाच उपयोगो के सिवाय तीन दर्शन— चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शन तथा चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यायज्ञान कुल सात उपयोग पाये जाते है।

बता सकते है। लेकिन पूर्व की तरह मतिज्ञानादि का कारण केवलज्ञानावरण मानें तो उस कारण के नष्ट होने से अनावृतप्रकाश मे पहले का प्रकाश समा जाता है, यानी मतिज्ञानादि ज्ञान हो ही नही सकते हैं। इसलिए अन्य आचार्यो के मत से पाच ज्ञान और उनके आवरण भिन्न-भिन्न है यह समझना चाहिये।

[1] चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन मे सम्यक्त्व, मिथ्यात्व निमित्तक सभी उपयोग होने का कथन सामान्य से समझना चाहिये। केवलद्विक उपयोग इनमे नही होते है। जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है

अज्ञानत्रिक, अभव्य, सासादन और मिथ्यात्व इन छह मार्गणाओ मे केवलद्विक और मतिज्ञानादि चार ज्ञानो के सिवाय शेष तीन अज्ञान और चक्षुदर्शन आदि प्रथम तीन दर्शन कुल छह उपयोग होते है।[1]

लेकिन मात्र कार्मग्रथिक मतानुसार इन छह मार्गणाओ मे उपयोगो का निर्देश इस प्रकार जानना चाहिए कि मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभगज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन यह पाच उपयोग होते है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन मार्गणा मे केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते है। इसका कारण गाथा में स्पष्ट किया जा चुका है कि 'केवलदुगेण सेसा न होंति उवओगा'—केवली के छद्मो का क्षय हो जाने से छद्मसहचारी मतिज्ञान आदि दस उपयोग सभव नही हैं।

चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन इन तीन दर्शनमार्गणाओ मे केवलद्विक से हीन शेष दस उपयोग होते हैं। इसका कारण यह है कि यह तीनो दर्शन बारहवे गुणस्थान तक पाये जाते है और ये सभी गुणस्थान छाद्मस्थिक अवस्थाभावी हैं। अत क्षायिकभावरूप केवलद्विक उपयोग नही होते है, जिससे शेष दस उपयोग माने जाते है।

अनाहारकमार्गणा में मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन के सिवाय शेप दस उपयोग होते है। क्योकि ये उपयोगद्वय पर्याप्त अवस्थाभावी

---

१ यह कथन कार्मग्रथिक और सैद्धान्तिक दोनो अपेक्षाओ का समन्वय करके किया है। क्योकि कार्मग्रथिक पहले तीन गुणस्थानो मे अज्ञान मानते हैं और सैद्धान्तिक विभगज्ञानी को अवधिदर्शन मानते हैं तथा सासादन-गुणस्थान मे मिथ्यात्व के उदय का अभाव होने से अज्ञान न मानकर ज्ञान मानते है। यहाँ जो अज्ञानत्रिक आदि छह मार्गणाओ मे अवधिदर्शन माना उसमे सैद्धान्तिक अपेक्षा और सासादन मे अज्ञान माना उसमे—कार्मग्रथिक अपेक्षा है।

होने से अनाहारकमार्गणा मे नही होते। अनाहारक दशा विग्रहगति तथा केवलीसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाचवे समय में अथवा मोक्ष मे होती है।

अत इन दोनो मे पृथक्-पृथक् रूप से उपयोगो का विचार किया जाये तो विग्रहगति मे आठ उपयोग होते हैं—भावी तीर्थंकर आदि सम्यक्त्वी की अपेक्षा तीन ज्ञान, मिथ्यात्वी की अपेक्षा तीन अज्ञान तथा सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी दोनो की अपेक्षा अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन तथा केवलीसमुद्घात और मोक्ष मे केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते है। इस प्रकार विग्रहगति सम्बन्धी आठ और केवलीसमुद्घात व मोक्ष में पाये जाने वाले दो उपयोगो को मिलाने से अनाहारकमार्गणा मे दस उपयोग होते है।

देशविरतिमार्गणा मे सम्यक्त्वनिमित्तक आदि के तीन दर्शन—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और आदि के तीन ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान सब मिलाकर छह उपयोग होते है तथा तीन अज्ञान और मनपर्यायज्ञान तथा केवलद्विक यह छह उपयोग नही होते हैं।

इन छह उपयोगो के न होने का कारण यह है कि देशविरति मे मिथ्यात्व का उदय नही होने से मिथ्यात्वसहभावी अज्ञानत्रिक तथा एकदेश तथा आशिक सयम का आचरण होने से सर्वविरतिसापेक्ष मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक यह तीनो उपयोग नही होते है। इसी कारण देशविरति मे आदि के तीन ज्ञान और तीन दर्शन यह छह उपयोग माने जाते है। अवधिद्विक को ग्रहण करने का कारण यह है कि श्रावको में अवधि उपयोग पाये जाने का वर्णन आगमो मे आया है।

मिश्रसम्यक्त्वमार्गणा मे भी देशविरति की तरह दर्शनत्रिक

और ज्ञानत्रिक कुल मिलाकर छह उपयोग पाये जाते है। लेकिन देशविरति की अपेक्षा इतनी विशेषता है कि वे अज्ञान से मिश्रित होते है। अर्थात् मतिज्ञान मति-अज्ञान से, श्रुतज्ञान श्रुत-अज्ञान से, अवधिज्ञान अवधि-अज्ञान (विभगज्ञान) से मिश्रित होते है। इस मिश्रता का कारण यह है कि यहाँ अर्धविशुद्ध दर्शनमोहनीय पुंज का उदय होने से परिणाम कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध यानी मिश्ररूप होते है। शुद्धि की अपेक्षा मति आदि को ज्ञान और अशुद्धि की अपेक्षा अज्ञान माना जाता है[1] तथा अविरतिमार्गणा में आदि के तीन ज्ञान, तीन अज्ञान और चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन कुल नौ उपयोग होते है।

लेकिन पृथक्-पृथक् सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी की अपेक्षा अविरतिमार्गणा मे उपयोग का विचार करे तो सम्यग्दृष्टि अविरतियो को मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन यह छह उपयोग होगे तथा मिथ्यात्वी अविरतियो मे मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञान और चक्षु, अचक्षुदर्शन कुल पाच उपयोग माने जायेगे।

इस प्रकार से मार्गणाओ मे उपयोग का विचार जानना चाहिये।[2] सरलता से समझने के लिये मार्गणाओ मे सभव योग और उपयोगो का प्रारूप इस प्रकार है—

---

१ मिश्रगुणस्थान में अवधिदर्शन का विचार करने वाले कार्मग्रथिक दो पक्ष है। प्रथम पक्ष चौथे आदि नौ गुणस्थानो मे अवधिदर्शन मानता है और द्वितीय पक्ष तीसरे गुणस्थान में भी अवधिदर्शन। यहाँ द्वितीय पक्ष को लेकर मिश्रदृष्टि के उपयोगो में अवधिदर्शन को ग्रहण किया है।

२ दिगम्बर कर्मसाहित्य में आगत मार्गणाओ मे उपयोग-विचार को परिशिष्ट में देखिये।

क्र० स०	मार्गणा नाम	योगो की सख्या और नाम	उपयोगो की सख्या व नाम
	१—गतिमार्गणा		
१	१ नरकगति	११ औदारिकद्विक और आहारक-द्विक के सिवाय	६ मनपर्यायज्ञान, केवल-द्विक के सिवाय
२	२ तिर्यंचगति	१३ आहारकद्विक के सिवाय	६ मनपर्यायज्ञान, केवल-द्विक के सिवाय
३	३ मनुष्यगति	१५ मन, वचन, ,काय योग के सभी भेद	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानो-पयोग, ४ दर्शनोपयोग)
४	४ देवगति	११ नरकगतिवत्	६ नरकगतिवत्
	२—इन्द्रियमार्गणा		
५	१ एकेन्द्रिय	५ कार्मण, औदा-रिकद्विक, वैक्रियद्विक	३ मति-श्रुत-अज्ञान, अचक्षुदर्शन
६	२ द्वीन्द्रिय	४ कार्मण, औदा-रिकद्विक, असत्यामृषाभाषा	३ मति-श्रुत अज्ञान, अचक्षुदर्शन
७	३ त्रीन्द्रिय	४ कार्मण, औदा-रिकद्विक, असत्यामृषाभाषा	३ मति-श्रुत अज्ञान, अचक्षुदर्शन

८	चतुरिन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषाभाषा	४ मति-श्रुत अज्ञान, अचक्षुदर्शन आदि दो दर्शन
९	५ पचेन्द्रिय	१५ मनुष्यगति वत्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान ४ दर्शन)

३—कायमार्गणा

१०	१ पृथ्वीकाय	३ कार्मण, औदारिकद्विक	३ एकेन्द्रियवत्
११	२ जलकाय	३ ,, ,,	३ ,, ,,
१२	३ तेजस्काय	३ ,, ,,	३ ,, ,,
१३	४ वायुकाय	५ कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक	३ ,, ,,
१४	५ वनस्पतिकाय	३ कार्मण, औदारिकद्विक	३ ,, ,,
१५	६ त्रसकाय	१५ मनुष्यगतिवत्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)

४—योगमार्गणा

१६	१ मनोयोग	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र के सिवाय	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, ४ दर्शन)
१७	२ वचनयोग	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र के सिवाय	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, ४ दर्शन)
१८	३ काययोग	१५ मनुष्यगतिवत्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान ४ द

५—वेदमार्गणा

१९	१ पुरुषवेद	१५ मनुष्यगतिवत्	१२ मनोयोगवत्
२०	२ स्त्रीवेद	१३ तिर्यंचगतिवत्	१२ ,,
२१	३ नपुंसकवेद	१५ मनुष्यगतिवत्	१३ ,,

६—कषायमार्गणा

२२	१ क्रोध	१५ मनुष्यगतिवत्	१० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग
२३	२ मान	१५ ,, ,,	१० ,, ,,
२४	३ माया	१५ ,, ,,	१० ,, ,,
२५	४ लोभ	१५ ,, ,,	१० ,, ,,

७—ज्ञानमार्गणा

२६	१ मतिज्ञान	१५ मनुष्यगतिवत्	७ अज्ञानत्रिक और केवलद्विक के सिवाय शेष सात
२७	२ श्रुतज्ञान	१५ मनुष्यगतिवत्	७ अज्ञानत्रिक और केवलद्विक के सिवाय शेष सात
२८	३ अवधिज्ञान	१५ मनुष्यगतिवत्	७ अज्ञानत्रिक और केवलद्विक के सिवाय शेष सात
२९	४ मनपर्याय-ज्ञान	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र के सिवाय	७ अज्ञानत्रिक और केवलद्विक के सिवाय शेष सात

३०	५ केवलज्ञान	७ औदारिकद्विक, कार्मण, सत्य, असत्यामृषा मनोयोग व वचनयोग	२ केवलज्ञान, केवल-दर्शन
३१	६ मति-अज्ञान	१३ तिर्यंचगतिवत्	६ तीन अज्ञान, चक्षु-दर्शन आदि तीन दर्शन
३२	७ श्रुत-अज्ञान	१३ तिर्यंचगतिवत्	६ तीन अज्ञान, चक्षु-दर्शन आदि तीन दर्शन
३३	८ विभगज्ञान	१३ तिर्यंचगतिवत्	६ तीन अज्ञान, चक्षु-दर्शन आदि तीन दर्शन

८–संयममार्गणा

३४	१ सामायिक	१३ कार्मण, औदारिकमिश्र के सिवाय	७ मतिज्ञानवत्
३५	२ छेदोपस्थापना	१३ ,, ,,	७ ,,
३६	३ परिहार-विशुद्धि	९ मनोयोग ४ वचनयोग ४ औदारिक	७ ,,
३७	४ सूक्ष्मसपराय	९ कार्मण, औदा० मिश्र, वैक्रियद्विक आहारकद्विक के बिना	७ ,,

३८	५ यथाख्यात	११ मनोयोग ४, वचनयोग ४, कार्मण, औदारिकद्विक	९ मतिज्ञान आदि पाच ज्ञान, चक्षुदर्शन आदि चार दर्शन
३९	६ देशविरति	११ मनोयोग ४ वचनयोग ४, औदारिक, वैक्रियद्विक	६ आदि के तीन दर्शन, आदि के तीन ज्ञान
४०	७ अविरति	१३ तिर्यंचगतिवत्	९ आदि के तीन ज्ञान, तीन अज्ञान, आदि के तीन दर्शन

९—दर्शनमार्गणा

४१	१ चक्षुदर्शन	११ कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र के सिवाय	१० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग
४२	२ अचक्षुदर्शन	१५ मनुष्यगतिवत्	१० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग
४३	३ अवधिदर्शन	१५ मनुष्यगतिवत्	१० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग
४४	४ केवलदर्शन	७ केवलज्ञानवत्	२ केवलज्ञान, केवलदर्शन

१०—लेश्यामार्गणा

४५	१ कृष्णलेश्या	१५	मनुष्यगतिवत्	१० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग
४६	२ नीललेश्या	१५	"	" "
४७	३ कापोतलेश्या	१५	"	" "
४८	४ तेजोलेश्या	१५	"	" "
४९	५ पद्मलेश्या	१५	"	" "
५०	६ शुक्ललेश्या	१५	"	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, ४ दर्शन)

११—भव्यमार्गणा

५१	१ भव्यत्व	१५	मनुष्यगतिवत्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान ४ दर्शन)
५२	२ अभव्य	१३	तिर्यंचगतिवत्	६ अज्ञानत्रिक चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन

१२—सम्यक्त्वमार्गणा

५३	१ औपशमिक	१३	तिर्यंचगतिवत्	७ मतिज्ञानवत्
५४	२ क्षायोप	१५	मनुष्यगतिवत्	७ मतिज्ञानवत्
५५	३ क्षायिक	१५	मनुष्यगतिवत्	९ मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान, चक्षुदर्शन आदि चार दर्शन
५६	४ सासादन	१३	तिर्यंचगतिवत्	६ अज्ञानत्रिक, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन

५७	५ मिश्र	१० मनोयोग ४ वचन-योग ४, औदारिक, वैक्रिय	६ आदि के तीन ज्ञान और दर्शन अज्ञानमिश्रित
५८	६ मिथ्यात्व	१३ तिर्यंचगतिवत्	६ अज्ञानत्रिक, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन

१३—संज्ञीमार्गणा

५९	१ संज्ञित्व	१५ मनुष्यगतिवत्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, ४ दर्शन)
६०	२ असंज्ञित्व	६ कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, असत्यामृषावचनयोग	४ मति-श्रुत अज्ञान, चक्षु, अचक्षुदर्शन

१४—आहारमार्गणा

६१	१ आहारकत्व	१५ मनुष्यगतिवत्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, ४ दर्शन)
६२	२ अनाहारकत्व	१ कार्मणकाययोग	१० मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन के सिवाय शेष द

विशेष

असंज्ञी पंचेन्द्रिय	४ मति-श्रुत अज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन

रणादि पाच गुणस्थानो से मन और वचन योग के चार-चार और औदारिक इस प्रकार नौ योग होते है।

मिश्रगुणस्थान मे वैक्रिययोग सहित दस, अप्रमत्तविरत-गुणस्थान मे आहारक सहित ग्यारह, देशविरत मे वैक्रियद्विक सहित ग्यारह और प्रमत्तविरत मे आहारकद्विक सहित तेरह योग होते है।

अयोगिकेवलीगुणस्थान योगरहित है और सयोगिकेवली-गुणस्थान मे मन और वचन के दो-दो, औदारिकद्विक और कार्मण ये सात योग होते है।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओ मे गुणस्थानो मे योगो की सख्या बतलाई है कि प्रत्येक गुणस्थान मे कितने और कौन-कौन से योग सम्भव है। योग के मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीन मूल भेदो के क्रमश चार ,चार और सात भेदो के नाम तो पूर्व मे कहे जा चुके है और यहाँ प्रारम्भ मे गुणस्थानो के भेद, नाम व लक्षण न बताकर बधकद्वार गाथा ८३ मे बताये है। लेकिन उपयोगिता की दृष्टि से गुणस्थानो मे योगो का निर्देश करने के पूर्व गुणस्थानो के भेद आदि जान लेना आवश्यक होने से पहले उनके भेद, नाम और लक्षण कहते है।

गुणस्थानो के भेद[1]

गुणस्थान का लक्षण पूर्व मे बताया जा चुका है कि सामान्य से चतुर्गति रूप ससार मे विद्यमान सभी जीवो के गुणो मे न्यूनाधिकता नही है। गुणो की दृष्टि से सभी आत्माये समान है। लेकिन ससारी आत्माओ के गुण आवरक कर्मों द्वारा आच्छादित है, उन आवरक कर्मों

---

१ गुणस्थान के भेद, लक्षण आदि का विस्तार से विचार द्वितीय कर्मग्र थ मे किया है। उसी का सक्षिप्त साराश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

कर्ममल के आगमन का द्वार योग है और आत्मगुणो के विकास का प्रबल अवरोधक मोहकर्म है। जव तक मोहकर्म की दर्शन और चारित्र अवरोधक दोनो शक्तिया प्रवल रहती है, तब तक कर्मो का आवरण सघन रहता है और उसके कारण आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रगट नही हो पाता है। लेकिन आवरणो के क्षीण, निर्जीण या क्षय होने पर आत्मा का यथार्थ स्वरूप व्यक्त होता है। परम स्वरूप-वोध और स्वरूप-रमणता ही जीव का लक्ष्य है और इसी मे सफलता प्राप्त करना उसके परम पुरुषार्थ की चरम परिणति है।

आगमो मे जीवो के स्वरूपविशेषो, भावात्मक परिणतियो—भेदो का विचार विस्तार से किया है। लेकिन उनमे गुणस्थान शब्द का प्रयोग देखने मे नही आता है, प्रत्युत जीवस्थान शब्द के द्वारा गुणस्थान के अर्थ को अभिव्यक्त किया है और जीवस्थान की रचना का आधार गुणस्थान की तरह कर्मविशुद्धि बताया है।[1] अत यही मानना चाहिए कि आगमगत जीवस्थान पद के लिए आगमोत्तर कालीन ग्रथो और कर्मग्रथो मे प्रयुक्त गुणस्थान पद मे गुण शब्द की मुख्यता के अतिरिक्त आशय मे अन्तर नही है। शाब्दिक भेद होने पर भी दोनो समानार्थक है।

ससार मे जीव अनन्त है। कतिपय अशो मे वाह्य शरीर, इन्द्रिय, गति आदि की अपेक्षा समानता जैसी दिखती है, फिर भी प्रत्येक जीव एक जैसा नही है। इसीलिए शास्त्रो मे इन्द्रिय, वेद, ज्ञान, उपयोग, लक्षण आदि विभागो के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से उनके भेद बताकर वर्ग वनाये है और ऐसा दिखता भी है। लेकिन वाह्य की अपेक्षा आतरिक ज्ञानादि गुणो के स्वरूप की विशेषताये तो असख्य प्रकार

---

१ कम्मविसोहिमग्गण पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता.... •

—समवायाग १४/५

कोई जीव शेष नही रहता है कि उसकी विशेषताओ का किसी न किसी वर्ग मे ग्रहण न हो जाये। इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक दृष्टि से सामान्यतया जीवो के दो प्रकार है– (१) मिथ्यात्वी (मिथ्या-दृष्टि) और (२) सम्यक्त्वी (सम्यग्दृष्टि), अर्थात् कितने ही जीव गाढ अज्ञान और विपरीत बुद्धि वाले एव तदनुकूल आचरण करने वाले है और कितने ही ज्ञानी, विवेकशील, प्रयोजनभूत लक्ष्य के मर्मज्ञ एव आदर्श का अनुसरण कर जीवन व्यतीत करने वाले है।

इनमे से अज्ञानी, विपरीत बुद्धि वाले जीवो का बोध कराने वाला पहला मिथ्यात्वगुणस्थान है और सम्यग्दृष्टि जीवो के तीन रूप है—(१) सम्यक्त्व से गिरते समय स्वल्प सम्यक्त्व वाले, (२) अर्ध सम्यक्त्व और अर्ध मिथ्यात्व अर्थात् मिश्र और (३) विशुद्ध सम्यक्त्व वाले किन्तु चारित्ररहित। इन तीनो मे से स्वल्प सम्यक्त्व वाले जीवो के लिए दूसरा सासादनगुणस्थान, मिश्रदृष्टि वालो के लिए तीसरा मिश्रगुणस्थान और चारित्रहीन विशुद्ध सम्यक्त्वी जीवो के लिए चौथा अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है।

यह कथन तो हुआ मिथ्यात्वी और सामान्य सम्यक्त्वी जीवो की अपेक्षा से। लेकिन जो जीव सम्यक्त्व और चारित्र सहित है, उनके भी चारित्र की अपेक्षा दो प्रकार है—(१) एकदेश (आशिक) चारित्र पालन करने वाले और (२) सम्पूर्ण चारित्र पालन करने वाले। ये सम्पूर्ण चारित्र का पालन करने वाले भी दो प्रकार के हैं—(१) प्रमादवश अतिचार, दोप लगाने वाले और (२) प्रमाद न रहने से निरतिचार चारित्र का पालन करने वाले। एकदेश चारित्र का पालन करने वालो का दर्शक पाचवा—देशविरतगुणस्थान है। प्रमादवश सपूर्ण चारित्र के पालन मे अतिचार लगाने वाले प्रमत्तसयत नामक छठे गुणस्थान वाले और निरतिचार—निर्दोष चारित्र का पालन करने वाले सातवें—अप्रमत्तसयतगुणस्थान वाले है।

यद्यपि अप्रमत्तसंयतदशापन्न जीव वीतरागदशा, स्वरूपरमणता प्राप्त करने की ओर उन्मुख हो जाते है तथापि छद्मस्थ-कर्मावृत है। जिससे पूर्ण वीतरागदशा प्राप्त करने मे व्यवधान आता है। कर्म और आत्मशक्ति के बीच अपनी-अपनी प्रबलता के परीक्षण का एक ऐसा प्रसग उपस्थित होता है कि जो जय-पराजय का निर्णायक होता है। अत कितने ही अप्रमत्तसयतगुणस्थानवर्ती जीव आत्मशक्ति की प्रबलता से सगठित कर्मशक्ति का छेदन-भेदन करने के लिए तत्पर हो जाते है और इसके लिए श्रेणिक्रम पर आरोहण करते है। जिसमे कर्मों की स्थिति, विपाकशक्ति को अधिक से अधिक निष्क्रिय, निर्बल बनाते है। जिससे पारिणामिक शुद्धि पूर्व की अपेक्षा विशेष-विशेष बढती जाती है। अर्थात् परिणाम शुद्ध-शुद्धतर होते जाते है। यह पारिणामिक शुद्धि प्रतिसमय अपूर्व ही होती है। इस दशा में वर्तमान जीवो का दर्शक आठवा अपूर्वकरणगुणस्थान है।

यद्यपि श्रेणी के आरोहण के कारण काषायिक भावो मे काफी निर्बलता आ जाती है और क्रमिक विशुद्धता भी बढती जाती है, तथापि उन कषायो मे उद्रेक की शक्ति बनी रहती है। अत ऐसे जीवो का बोधक अनिवृत्तिबादरसपराय नामक नौवा गुणस्थान है। इस गुणस्थान मे भी कषायो को कृश करने का क्रम तो पूर्ववत् चलता रहता है, जिससे अत मे एक ऐसी स्थिति आती है कि उन कषायो की झाई मात्र जैसी स्थिति रह जाती है। इस स्थिति वाले जीवो को बताने वाला दसवा सूक्ष्मसपरायगुणस्थान है।

किसी भी वस्तु के इस प्रकार की स्थिति बनने पर दो रूप बन सकते है कि या तो वह नष्ट हो जाये अथवा तिरोहित हो जाये। कषायो के लिए भी यही समझना चाहिए। दोनो ही स्थितियो मे जीव को अपने निर्मल स्वभाव के दर्शन होगे। तिरोहित, शात स्थिति को बताने वाला ग्यारहवा उपशातमोहवीतरागछद्मस्थगुणस्थान

कोई जीव शेष नही रहता है कि उसकी विशेषताओ का किसी न किसी वर्ग मे ग्रहण न हो जाये। इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक दृष्टि से सामान्यतया जीवो के दो प्रकार है— (१) मिथ्यात्वी (मिथ्यादृष्टि) और (२) सम्यक्त्वी (सम्यग्दृष्टि), अर्थात् कितने ही जीव गाढ अज्ञान और विपरीत बुद्धि वाले एव तदनुकूल आचरण करने वाले है और कितने ही ज्ञानी, विवेकशील, प्रयोजनभूत लक्ष्य के मर्मज्ञ एव आदर्श का अनुसरण कर जीवन व्यतीत करने वाले है।

इनमे से अज्ञानी, विपरीत बुद्धि वाले जीवो का बोध कराने वाला पहला मिथ्यात्वगुणस्थान है और सम्यग्दृष्टि जीवो के तीन रूप है— (१) सम्यक्त्व से गिरते समय स्वल्प सम्यक्त्व वाले, (२) अर्ध सम्यक्त्व और अर्ध मिथ्यात्व अर्थात् मिश्र और (३) विशुद्ध सम्यक्त्व वाले किन्तु चारित्ररहित। इन तीनो मे से स्वल्प सम्यक्त्व वाले जीवो के लिए दूसरा सासादनगुणस्थान, मिश्रदृष्टि वालो के लिए तीसरा मिश्रगुणस्थान और चारित्रहीन विशुद्ध सम्यक्त्वी जीवो के लिए चौथा अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है।

यह कथन तो हुआ मिथ्यात्वी और सामान्य सम्यक्त्वी जीवो की अपेक्षा से। लेकिन जो जीव सम्यक्त्व और चारित्र सहित है, उनके भी चारित्र की अपेक्षा दो प्रकार है—(१) एकदेश (आशिक) चारित्र पालन करने वाले और (२) सम्पूर्ण चारित्र पालन करने वाले। ये सम्पूर्ण चारित्र का पालन करने वाले भी दो प्रकार के है—(१) प्रमादवश अतिचार, दोप लगाने वाले और (२) प्रमाद न रहने से निरतिचार चारित्र का पालन करने वाले। एकदेश चारित्र का पालन करने वालो का दर्शक पाचवा—देशविरतगुणस्थान है। प्रमादवश सपूर्ण चारित्र के पालन मे अतिचार लगाने वाले प्रमत्तसयत नामक छठे गुणस्थान वाले और निरतिचार—निर्दोप चारित्र का पालन करने वाले सातवें—अप्रमत्तसयतगुणस्थान वाले है।

यद्यपि अप्रमत्तसयतदशापन्न जीव वीतरागदशा, स्वरूपरमणता प्राप्त करने की ओर उन्मुख हो जाते है तथापि छद्मस्थ-कर्मावृत्त है। जिसमे पूर्ण वीतरागदशा प्राप्त करने मे व्यवधान आता है। कर्म और आत्मशक्ति के बीच अपनी-अपनी प्रबलता के परीक्षण का एक ऐसा प्रसग उपस्थित होता है कि जो जय-पराजय का निर्णायक होता है। अत कितने ही अप्रमत्तसयतगुणस्थानवर्ती जीव आत्मशक्ति की प्रबलता से सगठित कर्मशक्ति का छेदन-भेदन करने के लिए तत्पर हो जाते है और इसके लिए श्रेणिक्रम पर आरोहण करते है। जिसमे कर्मो की स्थिति, विपाकशक्ति को अधिक से अधिक निष्क्रिय, निर्बल बनाते है। जिससे पारिणामिक शुद्धि पूर्व की अपेक्षा विशेष-विशेष बढती जाती है। अर्थात् परिणाम शुद्ध-शुद्धतर होते जाते है। यह पारिणामिक शुद्धि प्रतिसमय अपूर्व ही होती है। इस दशा मे वर्तमान जीवो का दर्शक आठवा अपूर्वकरणगुणस्थान है।

यद्यपि श्रेणी के आरोहण के कारण काषायिक भावो मे काफी निर्बलता आ जाती है और क्रमिक विशुद्धता भी बढती जाती है, तथापि उन कषायो मे उद्रेक की शक्ति बनी रहती है। अत ऐसे जीवो का बोधक अनिवृत्तिबादरसपराय नामक नौवा गुणस्थान है। इस गुणस्थान मे भी कषायो को कृश करने का क्रम तो पूर्ववत् चलता रहता है, जिसमे अत मे एक ऐसी स्थिति आती है कि उन कषायो की झाई मात्र जैसी स्थिति रह जाती है। इस स्थिति वाले जीवो को बताने वाला दसवा सूक्ष्मसपरायगुणस्थान है।

किसी भी वस्तु के इस प्रकार की स्थिति बनने पर दो रूप बन सकते है कि या तो वह नष्ट हो जाये अथवा तिरोहित हो जाये। कषायो के लिए भी यही समझना चाहिए। दोनो ही स्थितियो मे जीव को अपने निर्मल स्वभाव के दर्शन होगे। तिरोहित, शात स्थिति को बताने वाला ग्यारहवा उपशातमोहवीतरागछद्मस्थगुणस्थान

है और नष्ट अवस्था का दर्शक क्षीणमोहवीतरागछद्मस्थ नामक बारहवा गुणस्थान है। उपशात कषायो का उद्रेक सभव है, किन्तु नष्ट होने पर आत्मा को पूर्ण परमात्मदशा प्राप्त करने मे कोई अवरोधक कारण नही रहता है।

कषाय (मोहनीयकर्म) के क्षय के साथ और भी दूसरे ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि आत्मगुणो के आच्छादक कर्मों का क्षय हो जाता है, लेकिन अभी भी शरीरादि योगो का सम्बन्ध बना रहने से वह योगयुक्त वीतराग जीव सयोगिकेवली नामक तेरहवा गुणस्थानवर्ती कहलाता है और जब इन शारीरिक योगो का भी वियोग, क्षय हो जाता है तो ज्ञान-दर्शन आदि आत्मरमणतारूप स्थिति बन जाती है। जिसका दर्शक चौदहवा गुणस्थान अयोगिकेवली है।

इन चौदह गुणस्थानो मे आदि के चार गुणस्थानो मे दर्शन-मोह—स्वरूपबोध आच्छादक कर्म की और उनसे ऊपर चारित्रमोह—स्वरूप-लाभ आवरक कर्म की अपेक्षा है और अतिम तेरहवे, चौदहवें गुणस्थान योगसापेक्ष है।

इस प्रकार ये चौदह गुणस्थान स्व गतव्य और प्राप्तव्य की ओर अग्रसर आत्मा के विकासदर्शक सोपान है।

यद्यपि गुणस्थानक्रमारोहण की इस सक्षिप्त झाकी मे गुणस्थानो की स्वरूपव्याख्या का पूर्वाभास हो जाता है, तथापि प्रत्येक गुण-स्थान का कुछ विशेषता के साथ लक्षण समझने के लिए अब सक्षेप मे मिथ्यात्व आदि गुणस्थानो का स्वरूप बतलाते है।

१ मिथ्यात्वगुणस्थान—जीव-अजीव आदि तत्त्वो की मिथ्या-विपरीत है दृष्टि, श्रद्धा जिसकी उस जीव को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जैसे—किसी व्यक्ति ने धतूरा खाया हो तो उसको सफेद वस्तु भी पीली दिखती है, उसी प्रकार मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि विपरीत हो, जीव-अजीव आदि के स्वरूप की

यथार्थ प्रतीति नही हो, उस आत्मा को मिथ्यादृष्टि और उसके ज्ञानादि गुणो के स्वरूपविशेष को मिथ्यादृष्टिगुणस्थान कहते है।

प्रश्न—यदि आत्मा मिथ्यादृष्टि-विपरीतदृष्टि वाला है तो उसे गुणस्थान कैसे कह सकते है। क्योकि गुण तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप है। जब विपरीत प्रतीति, श्रद्धा हो तब वे गुण कैसे हो सकते है। अर्थात् ज्ञानादि गुण जब मिथ्यात्वमोह के उदय से दूषित हो तब उन दूषित गुणो को गुणस्थान कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—यद्यपि तत्त्वार्थ की श्रद्धा रूप आत्मा के गुण को सर्वथा आच्छादित करने वाले प्रबल मिथ्यात्वमोहनीय के विपाकोदय से प्राणियो की जीव-अजीव आदि वस्तुओ की प्रतीति रूप तात्त्विक श्रद्धा विपरीत होती है, तथापि प्रत्येक प्राणी मे यह मनुष्य है, यह पशु है, इत्यादि रूप से कुछ प्रतीति होती है। इतना ही क्यो, निगोदावस्था मे भी यह उष्ण है, यह शीत है, इस प्रकार की स्पर्शनेन्द्रिय के विषय की प्रतीति (ज्ञान) अविपरीत होती है। जैसे कि अति सघन बादलो से चन्द्र और सूर्य की प्रभा के आच्छादित होने पर भी सपूर्णतया उसकी प्रभा का नाश नही होता है, आशिक रूप से खुली रहती है, जिससे दिन-रात का विभाग किया सके। यदि वह अंश भी खुला न रहे तो प्राणिमात्र मे प्रसिद्ध दिन-रात का भेद ही नही किया जा सकता है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रबल मिथ्यात्वमोह के उदय से सम्यक्त्व रूप आत्मा का स्वरूप आच्छादित रहने पर भी उसका कुछ न कुछ अश अनावृत रहता है। जिसके द्वारा मनुष्य और पशु आदि विषयो की अविपरीत प्रतीति प्रत्येक आत्मा को होती है। इस अश गुण की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि को गुणस्थान माना जाता है।

प्रश्न—अंशगुण की अपेक्षा जब मिथ्यादृष्टि को गुणस्थान माना जाता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि कहने और मानने मे क्या आपत्ति है

क्योकि मनुष्य, पशु आदि विषयक प्रतीति, श्रद्धा की अपेक्षा और अत मे निगोदावस्था मे भी तथाप्रकार के स्पर्श की अव्यक्त प्रतीति की अपेक्षा से प्रत्येक आत्मा में सम्यग्दृष्टित्व माना जा सकता है। अतएव आशिक गुण की अपेक्षा से प्रत्येक आत्मा को सम्यग्दृष्टि कहना चाहिये, मिथ्यादृष्टि नही।

उत्तर—यह ठीक है कि किसी अश मे मिथ्यात्वी की दृष्टि यथार्थ है, किन्तु इतने मात्र से उसे सम्यग्दृष्टि नही कह सकते है। क्योकि शास्त्र मे कहा गया है कि द्वादशाग के अर्थ को मानने पर भी सूत्रोक्त एक अक्षर की जो श्रद्धा, प्रतीति, विश्वास नही करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। अत यदि सूत्र ही प्रमाण नही तो भगवान अरिहंत-भाषित जीव-अजीव आदि वस्तुविषयक यथार्थ तत्त्वनिर्णय कैसे हो सकता है ? लेकिन सम्यक्त्वी जीव की यह विशेषता होती है कि उसे सर्वज्ञकथन पर अखण्ड विश्वास होता है किन्तु मिथ्यात्वी को नही होता है। इसीलिये मिथ्यात्वी को सम्यग्दृष्टि नही कहा जा सकता है।

प्रश्न—अरिहन्त-भाषित सिद्धान्त के अर्थ को मानने पर भी तद्गत एक अक्षर को न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। परन्तु न्याय से तो उसे मिश्रदृष्टि कहना चाहिये। क्योकि वह भगवान अरिहतभाषित सपूर्ण अर्थ को मानता है,मात्र कुछ एक अर्थ को नही मानता है। अत श्रद्धा-अश्रद्धा की मिश्रता होने से मिश्रदृष्टि कहना चाहिए, न कि मिथ्यादृष्टि।

उत्तर—श्रद्धा-अश्रद्धा की मिश्रता से मिश्रदृष्टि कहना चाहिये, मिथ्यादृष्टि नही, यह कथन वस्तुस्वरूप का अज्ञान होने से असत् है। क्योकि वीतरागभाषित जीव अजीव आदि सभी पदार्थों को जिन-प्रणीत होने मे यथार्थरूप से श्रद्धा करे तब वह सम्यग्दृष्टि है, लेकिन जब जीव-अजीव आदि सभी पदार्थों को अथवा उसके अमुक अश की

भी अयथार्थ रूप मे श्रद्धा करे तब वह मिथ्यादृष्टि है और जब एक भी द्रव्य या पर्याय के विषय मे बुद्धि की मदता के कारण सम्यग्ज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान का अभाव होने से न तो एकान्त श्रद्धा होती है और न एकान्त अश्रद्धा, तब वह मिश्रदृष्टि कहलाता है। इस प्रकार जब श्रद्धा-अश्रद्धा दोनो न हो तब उसे मिश्रदृष्टि कहते है। परन्तु जब एक भी वस्तु या पर्याय के विषय मे एकान्त अश्रद्धा हो तब उसे मिथ्यादृष्टि ही कहा जायेगा।

२ सासादनगुणस्थान—आय—उपशम सम्यक्त्व के लाभ का जो नाश करे उसे आयसादन कहते है। व्याकरण के नियम के अनुसार इसमे 'य' शब्द का लोप होने से आसादन शब्द बनता है। अत जो उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबधिकपाय के उदय से सम्यक्त्व को छोडकर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख है, किन्तु अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नही किया है, तब तक अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवालिका पर्यन्त सासादनसम्यग्दृष्टि कहलाता है और उस जीव के स्वरूपविशेष को सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थान कहते है।

जिस प्रकार पर्वत से गिरने और अभी भूमि पर न आने के पहले मध्य मे जो समय है, उसे न पर्वत पर ठहरने का और न भूमि पर ठहरने का समय कह सकते है, किन्तु अनुभयकाल है। इसी प्रकार अनन्तानुबधिकषायो के उदय होने से सम्यक्त्वपरिणामो के छूटने पर और मिथ्यात्वपरिणामो के प्राप्त न होने पर -मध्य के अनुभयकाल-भावी परिणामो को सासादनगुणस्थान कहते है।

यद्यपि इस गुणस्थान के समय जीव मिथ्यात्व की ओर उन्मुख है, तथापि जिस प्रकार खीर खाकर उसका वमन करने वाले को विलक्षण स्वाद का अनुभव होता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख हुए जीव को भी कुछ काल तक सम्यक्त्व गुण

विलक्षण आस्वादन अनुभव मे आता है। इस स्थिति का द्योतक यह सासादनगुणस्थान है।

३ **मिश्रदृष्टिगुणस्थान**—सम्यग्—यथार्थ और मिथ्या—अयथार्थ दृष्टि-श्रद्धा है जिसकी उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि और उसके ज्ञानादि गुणो के स्वरूपविशेष को सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान कहते है। अर्थात् दर्शनमोहनीय के तीन पुजो—शुद्ध (सम्यक्त्व), अशुद्ध (मिथ्यात्व) और अर्द्धविशुद्ध (सम्यग्मिथ्यात्व) मे से जब अर्धविशुद्ध पुज का उदय हो जाता है, जिससे जिनप्रणीत तत्त्व पर श्रद्धा या अश्रद्धा नही होती है[1] किन्तु गुड से मिश्रित दही के स्वाद की तरह श्रद्धा-अश्रद्धा मिश्र होती है। इस प्रकार की श्रद्धा वाले जीव को सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते है और उसका स्वरूपविशेष मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) गुणस्थान कहलाता है।

इस गुणस्थान मे श्रद्धा (रुचि), अश्रद्धा (अरुचि) न होने का कारण यह है जीव मिश्रगुणस्थान मे पहले और चौथे इन दोनो गुणस्थानो

---

१ मिथ्यात्वमोहनीय के एकस्थानक और मद द्विस्थानक रस वाले पुद्गलो को सम्यक्त्वमोहनीय कहते है, उनके उदय से जिन वचनो पर श्रद्धा होती है, उस समय आत्मा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होती है। मध्यम द्विस्थानक रस वाले मिथ्यात्व के पुद्गलो को मिश्रमोहनीय कहते हैं। उनके उदय से जिनप्रणीत तत्त्व पर श्रद्धा या अश्रद्धा नही होती है और तीव्र द्वि, त्रि और चतु स्थानक रस वाले पुद्गल मिथ्यात्वमोहनीय कहलाते हैं। उनके उदय से जिनप्रणीत तत्त्व के प्रति अरुचि ही होती है। उक्त तीन पुजो मे से जब अर्धविशुद्ध पुज का उदय होता है तब उसके उदय से जीव को अरिहतभाषित तत्त्व की अर्धविशुद्ध श्रद्धा होती है। अर्थात् जिनप्रणीत तत्त्व के प्रति रुचि या अरुचि नही होती है, तब सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान प्राप्त होता है।

से आता है। पहले से आने वाले के जो अरुचि थी, वह तो हट जाती है, किन्तु रुचि थी ही नही। चौथे से आने वाले के जो रुचि थी, वह दूर हो जाती है और अरुचि तो थी ही नही। इसीलिए तीसरे गुणस्थान मे रुचि या अरुचि नही होती है। इसी का नाम अर्धविशुद्ध श्रद्धा है।

इस गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। तत्पश्चात् परिणाम के अनुसार पहले या चौथे गुणस्थान को जीव प्राप्त करता है।

४ अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान—हिसादि सावद्य व्यापारो और पापजनक प्रयत्नो के त्याग को विरति कहते है और पाप व्यापारो एवं प्रयत्नो का त्याग न किया जाना अविरति कहलाता है। चारित्र और व्रत ये विरति के अपर नाम है। अत सम्यग्दृष्टि होकर भी जो जीव किसी प्रकार के व्रत को धारण नही कर सकता है उसे अविरतसम्यग्दृष्टि कहते है और उसका स्वरूपविशेष अविरतसम्यग्दृष्टि कहलाता है। ये सम्यग्दृष्टि आत्माये अविरति के निमित्त से होने वाले कर्मबध के दुरत फल को जानती है और यह भी जानती है कि मोक्षमहल मे चढने के लिए नसैनी के समान विरति है, किन्तु उसको स्वीकार नही कर पाती है और न उसके पालन का प्रयत्न कर पाती है। इसलिए इस गुणस्थानवर्ती जीव को अविरतसम्यग्दृष्टि कहते है।

यद्यपि इस गुणस्थान मे औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक इन तीन मे मे कोई एक सम्यक्त्व होने से हेयोपादेय का विवेक होता है और ससार के प्रति आसक्तिभाव भी अल्प होता है और आत्महितकारी प्रवृत्ति मे उल्लास आता है, लेकिन सयमविघातक अप्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय रहने से आशिक सयम का भी

नही किया जा सकता है। यहाँ नीचे के गुणस्थान की अपेक्षा अनन्त-गुणी विशुद्धि होती है और ऊपर के पाचवे गुणस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणहीन विशुद्धि होती है।

५ देशविरतगुणस्थान—जो सम्यग्दृष्टि जीव सर्वविरति की आकाक्षा होने पर भी प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय से हिंसादि पापक्रियाओ का सर्वथा त्याग नही कर सकते, किन्तु अप्रत्याख्याना-वरणकषाय का उदय न होने से देशत आशिक त्याग करते है वे देशविरति कहलाते है। इनका स्वरूपविशेष देशविरतगुणस्थान है। देशविरति को श्रावक भी कहते है।

इस गुणस्थानवर्ती कई श्रावक एक व्रत लेते हैं, यावत् कोई सर्व व्रत-विषयक सावद्ययोग का त्याग करते हैं। इस प्रकार अधिक-अधिक व्रतो का पालन करने वाले कई श्रावक ऐसे होते हैं जो अनुमति को छोडकर सावद्ययोग का सर्वथा त्याग करते हैं।

अनुमति के तीन प्रकार है—प्रतिसेवनानुमति, प्रतिश्रवणानुमति और सवासानुमति। अपने या दूसरे के सावद्यारभ से किये हुए भोजन आदि का उपयोग करना प्रतिसेवनानुमति है। पुत्र आदि किसी सबधी के द्वारा किये गये पाप कर्मो को सुनना और सुनकर भी उन कर्मो को करने से उनको नही रोकना प्रतिश्रवणानुमति है। पुत्र आदि अपने सम्बन्धियो को पापकार्य मे प्रवृत्त होने पर भी उन पर सिर्फ ममता रखना अर्थात् न तो पापकर्म को सुनना और सुनकर भी न उसकी प्रशसा करना सवासानुमति है। इन तीनो मे से जो सवासानुमति के सिवाय सर्व पाप-व्यापार का त्याग करता है वह उत्कृष्ट देशविरत श्रावक कहलाता है। अर्थात् अन्य श्रावको अपेक्षा वह श्रेष्ठ होता है।

६ प्रमत्तसयतगुणस्थान—सर्वसयम की घातक प्रत्याख्याना-वरणकपाय का उदय न होने से जो जीव तीन करण तीन योगो से

सर्वसावद्य व्यापारो से सर्वथा निवृत्त हो जाते है वे सयत (मुनि) है। लेकिन सज्वलनकपाय का उदय रहने से प्रमाद का सेवन करते है तव तक वे प्रमत्तसयत कहलाते है और उनके स्वरूपविशेप को प्रमत्तसयतगुणस्थान कहते है। इस गुणस्थानवर्ती जीव सावद्यकर्मो का यहाँ तक त्याग करते है कि पूर्वोक्त सवासानुमति का भी सेवन नही करते हैं।

यहाँ देशविरतगुणस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणी विशुद्धि होने से विशुद्धि का प्रकर्प और अविशुद्धि का अपकर्प होता है और अप्रमत्त-सयतगुणस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणहीन विशुद्धि होने से विशुद्धि का अपकर्प और अविशुद्धि का उत्कर्प होता है। इसी प्रकार अन्य गुण-स्थानो के लिए भी समझना चाहिए।

इस गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरणकपाय का क्षयोपशम होने से जीव सामायिक अथवा छेदोपस्थापनीय चारित्र प्राप्त करता है। परिहारविशुद्धि सयमी भी हो सकता है, किन्तु उसकी विवक्षा नही की है। क्योकि इस चारित्र का ग्रहण तीर्थंकर अथवा जिसने तीर्थंकर से यह चारित्र ग्रहण किया है, उसके पास होता है तथा चौथे आरे में उत्पन्न प्रथम सहनन और साडे नौ पूर्व के ज्ञानी को यह चारित्र होता है, अन्य को नही होता है। अतएव अल्प काल और अल्प ग्रहण करने वाले होने से छठे सातवें गुणस्थान मे इस चारित्र के होने पर भी विवक्षा नही की जाती है।

७ अप्रमत्तसयतगुणस्थान—जो सयत (मुनि) सज्वलनकपाय का मद उदय होने से निद्रा, विकथा, कपाय आदि प्रमादो का सेवन नही करते है, वे अप्रमत्तसयत कहलाते हैं और उनके स्वरूपविशेप को अप्रमत्तसयतगुणस्थान कहते हैं।

छठे प्रमत्तसयत और सातवें अप्रमत्तसयत गुणस्थान मे इतना अतर है कि सातवें गुणस्थान मे थोडा-सा भी प्रमाद नही होने से

व्रतो मे अतिचारादि सभव नही हैं किन्तु छठे गुणस्थान मे प्रमाद होने से व्रतो में अतिचार लगने की सभावना है।

प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणो की शुद्धि से गिरती है। इसलिये इस गुणस्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थानो मे वर्तमान मुनि अपने स्वरूप मे अप्रमत्त ही रहते हैं।

८ **अपूर्वकरणगुणस्थान**—अपूर्व—पूर्व मे नही हुए अथवा अन्य गुणस्थानो के साथ तुलना न की जा सके उसे अपूर्व कहते है और करण स्थितिघातादि क्रिया अथवा परिणाम। इसका यह अर्थ हुआ कि पूर्व मे नही हुए अथवा अन्य गुणस्थानो के साथ जिनकी तुलना न की जा सके ऐसे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसक्रमण और अपूर्व स्थितिबध[1] ये पाच पदार्थ जिसके अन्दर होते है, अथवा पूर्व मे नही हुए ऐसे विशेषशुद्धि वाले अपूर्व परिणाम[2] जहाँ होते हैं, उसे अपूर्वकरण कहते है और इस प्रकार के परिणाम मे वर्तमान जीवो के स्वरूपविशेष को अपूर्वकरणगुणस्थान कहते है।

इस गुणस्थान का अपरनाम निवृत्तिबादरगुणस्थान भी है। अध्यवसाय, परिणाम, निवृत्ति ये समानार्थक शब्द है। अत जिस गुणस्थान मे अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुवधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण इन तीनो वादर कषायो की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था विशेष को निवृत्तिबादरगुणस्थान कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त मे छठा और अन्तर्मुहूर्त मे सातवा गुणस्थान होता रहता है। परन्तु इस प्रकार के स्पर्श से जो सयत विशेष प्रकार की

---

१ इन स्थितघात आदि पाच पदार्थों की विशेप व्याख्या उपशमश्रेणि के विचारप्रसग मे की जायेगी।

२ अपूर्वकरण मे उत्तरोत्तर अपूर्व स्थितिबध और अध्यवसायो की वृद्धि विपयक विचार का साराश परिशिष्ट मे दिया गया है।

शुद्धि प्राप्त करके उपशम या क्षपक श्रेणी माडने वाला होता है वह इस अपूर्वकरणगुणस्थान मे आता है। यद्यपि दोनो श्रेणियो का प्रारम्भ नौवे गुणस्थान से होता है, किन्तु उनकी आधारशिला यह आठवा गुणस्थान है। अर्थात् आठवे गुणस्थान मे उपशमन या क्षपण की योग्यता प्राप्त होती है और श्रेणी का प्रारम्भ नौवे गुणस्थान से होता है।

९ **अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान**— जिसमे समसमयवर्ती जीवो के अध्यवसायो मे तारतम्य न हो और वादर (स्थूल) सपराय (कषाय) का उदय होता है उसे अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थान कहते है।

इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और एक अन्तर्मुहूर्त मे जितने समय होते है उतने ही अध्यवसाय-स्थान इस गुणस्थान के होते है और वे प्रथम समय से लेकर उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि वाले है। अर्थात् पहले समय मे जो अध्य-वसाय होते है, उससे दूसरे समय मे अनन्तगुण विशुद्ध होते है, यावत् चरम समय पर्यन्त इसी प्रकार से जानना चाहिये।

नौवे गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं— (१) उपशमक और (२) क्षपक। चारित्रमोहनीय की उपशमना करने वाले उपशमक और क्षय करने वाले क्षपक कहलाते है।

यद्यपि आठवे और नौवे गुणस्थान मे अध्यवसायो की विशुद्धि होती रहती है फिर भी इन दोनो की अपनी-अपनी विशेषता है। जैसे कि आठवे गुणस्थान मे समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवो के अध्यवसाय शुद्धि की तरतमता से असंख्यात वर्गों मे विभाजित किये जा सकते है, किन्तु नौवे गुणस्थान मे समानशुद्धि के कारण समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवो के अध्यवसायो का एक ही वर्ग होता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थान से उत्तर-उत्तर के गुणस्थान मे कषाये अश कम-कम होते जाने से कषायो की न्यूनता के अनुसार ज

परिणामो मे विशुद्धि बढती जाती है। अत आठवे गुणस्थान की अपेक्षा नौवे गुणस्थान मे विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उनके अध्यवसायो की भिन्नताये आठवे गुणस्थान के अध्यवसायो की भिन्नताओ से बहुत कम हो जाती है।

जिस गुणस्थान मे एक साथ चढे हुए जीवो के अध्यवसायो मे परस्पर तारतम्य हो, उसे निवृत्ति और जिस गुणस्थान मे साथ चढे हुए जीवो के अध्यवसायो मे परस्पर तारतम्य न हो, परन्तु एक का जो अध्यवसाय, वही दूसरे का, वही तीसरे का, इस प्रकार अनन्त जीवो का भी एक समान हो, उसे अनिवृत्तिगुणस्थान कहते हैं। यही आठवे और नौवे गुणस्थान के बीच अन्तर है।

इस गुणस्थान मे भी आठवें गुणस्थान की तरह स्थितिघात आदि पाचो पदार्थ होते हैं तथा विशुद्धि का विचार दो तरह से किया जाता है—(१) तिर्यग्मुखी विशुद्धि और (२) ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि। इसमें उत्तरोत्तर ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि होती है।

१० **सूक्ष्मसपरायगुणस्थान**—किट्टीरूप (कृश) किये हुए सूक्ष्मसपराय अर्थात् लोभकषाय का जिसमे उदय होता है, उसे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान कहते है। इस गुणस्थान मे मात्र सज्वलन लोभकषाय के सूक्ष्म खण्डो का उदय शेष रहता है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव भी उपशमक अथवा क्षपक होते है। लोभ के सिवाय चारित्रमोहनीय कर्म की दूसरी ऐसी प्रकृति नही होती है जिसका उपशमन या क्षपण न हुआ हो। अत उपशमक लोभकपाय का उपशमन और क्षपक क्षपण करते है। यहाँ सूक्ष्म लोभखडो का उदय होने से यथाख्यातचारित्र के प्रगट होने में कुछ न्यूनता रहती है।

११ **उपशातकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान**—आत्मा के ज्ञानादि गुणो को जो आच्छादित करे उसे छद्म कहते है अर्थात् ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का उदय और उन घातिकर्मों के उदय

वाले जीवो को छद्मस्थ कहते है। दसवे गुणस्थान तक के छद्मस्थ रागी भी होते है, उनसे अलग करने के लिए वीतराग विशेषण दिया है। माया और लोभ कषाय का उदयरूप राग और उपलक्षण से क्रोध और मान का उदयरूप द्वेष भी जिनका दूर हो गया है, उन्हे वीतराग कहते है। यहाँ वीतरागछद्मस्थ का ग्रहण है किन्तु दसवे गुणस्थान तक के रागी छद्मस्थ का नही। वीतरागछद्मस्थ बारहवे गुणस्थान वाली आत्माएँ भी होती है, अत उनसे पृथक् करने के लिए उपशान्तकषाय विशेषण दिया है। उपशातकषाय अर्थात् जिन्होने कषायो को सर्वथा उपशमित किया यानी कषायो की सत्ता होने पर भी उनकी इस प्रकार की स्थिति बना दी है कि जिनमें सक्रमण और उद्वर्तनादि करण एव विपाकोदय या प्रदेशोदय कुछ भी नही हो सकते है। मोहनीयकर्म का जिन्होने सर्वथा उपशम किया है, ऐसे वीतराग का यहाँ ग्रहण किये जाने से बारहवे गुणस्थान वाली आत्माओ से पृथक्करण हो जाता है। क्योकि उन्होने तो मोह का सर्वथा क्षय किया है। अत उपशातकषायवीतरागछद्मस्थ आत्मा का जो गुणस्थानस्व—रूपविशेष वह उपशातकषायवीतरागछद्मस्थ-गुणस्थान कहलाता है।

इस कथन का साराश यह है कि जिनके कषाय उपशात हुए है, राग का भी सर्वथा उदय नही और राग के उपलक्षण से द्वेष का ग्रहण हो जाने से उसका भी सर्वथा उदय नही है और जिनके अभी छद्म (आवरणभूत घातिकर्म) लगे हुए है, वे जीव उपशातकषाय-वीतरागछद्मस्थ कहलाते है और उनके स्वरूपविशेष को उपशात-कषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान कहते है।

शरद् ऋतु मे होने वाले सरोवर के जल की तरह मोहनीयकर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणाम इस गुणस्थान वाले जीव के होते है। इस गुणस्थान मे विद्यमान जीव आगे के गुणस्थानो को प्राप्त करने मे समर्थ नही होते है। क्योकि आगे के गुणस्थान वही

पा सकता है जो क्षपकश्रेणि को करता है और क्षपकश्रेणि के बिना मोक्ष की प्राप्ति नही होती है। किन्तु इस गुणस्थान वाला जीव नियम से उपशमश्रेणि को करने वाला होता है। अतएव वह इस गुणस्थान से अवश्य गिरता है।

यदि गुणस्थान का समय पूरा न होने पर जो जीव भवक्षय से गिरता है तो अनुत्तरविमान मे देवरूप से उत्पन्न होता है और वहाँ व्रत आदि धारण करना सभव न होने से चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान को ही प्राप्त करता है और तब वह उस गुणस्थान के योग्य कर्मप्रकृतियो के बध, उदय, उदीरणा को प्रारम्भ कर देता है। परन्तु आयु के शेष रहते इस गुणस्थान से गिरता है तो पतन के समय आरोहण के क्रम के अनुसार गुणस्थान को प्राप्त करता है और उस-उस गुणस्थान के योग्य सर्व कर्मप्रकृतियो का बध, उदय, उदीरणा करना प्रारम्भ कर देता है और यह गिरने वाला कोई जीव छठे गुणस्थान को, कोई पाचवे गुणस्थान को, कोई चौथे गुण-स्थान को और कोई दूसरे गुणस्थान को प्राप्त करते हुए पहले गुणस्थान तक आ जाता है।

ग्यारहवे गुणस्थान की कालमर्यादा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

१२ क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान—सर्वथा प्रकार से कपाय जिनके नष्ट हुए है, उनको क्षीणकषाय कहते है। अर्थात् जो मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय कर चुके हैं, किन्तु शेष छद्म (घाति-कर्म का आवरण) अभी विद्यमान है, उनको क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थ कहते है और उनका स्वरूपविशेष क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थगुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और इसमे वर्तमान जीव क्षपक-श्रेणि वाले ही होते हैं।

इस बारहवे गुणस्थान को प्राप्त करने के लिए मोहनीयकर्म का क्षय होना जरूरी है और क्षय करने के लिए क्षपकश्रेणी[1] की जाती है।

इस बारहवे गुणस्थान के नाम मे क्षीणकषाय, वीतराग और छद्मस्थ ये तीनो व्यावर्तक विशेषण है। क्योकि क्षीणकषाय इस विशेषण के अभाव मे वीतरागछद्मस्थ इतने नाम से ग्यारहवे गुणस्थान का भी बोध होता है। क्योकि ग्यारहवे गुणस्थान मे कषाय क्षीण नही किन्तु उपशात होते है और वीतराग इस विशेषण से रहित क्षीणकषायछद्मस्थगुणस्थान इतने नाम से बारहवे के सिवाय चतुर्थ आदि गुणस्थानो का बोध हो जाता है। क्योकि उन गुणस्थानो मे भी अनन्तानुबधी आदि कषायो का क्षय हो सकता है। लेकिन वीतराग इस विशेषण के होने से उन चतुर्थ आदि गुणस्थानो का बोध नही होता है। क्योकि किसी न किसी अश मे राग का उदय उन गुणस्थानो मे है, जिससे वीतरागत्व असभव है। इसी प्रकार छद्मस्थ इस विशेषण के न रहने से भी क्षीणकषाय-वीतराग इतना नाम बारहवे गुणस्थान के अतिरिक्त तेरहवे, चौदहवे गुणस्थान का भी बोधक हो जाता है। परन्तु छद्मस्थ इस विशेषण के रहने से बारहवे गुणस्थान का ही बोध होता है। क्योकि तेरहवे, चौदहवे गुणस्थान मे विद्यमान जीव के छद्म (घातिकर्म का आवरण) नही रहता है। इसीलिए उन सब विशेषताओ को ग्रहण करने के लिए बारहवे गुणस्थान का क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ यह नामकरण किया गया है।

१३ सयोगिकेवलीगुणस्थान— योग अर्थात् वीर्य-परिस्पद। अत मन, वचन और काया के द्वारा जिनके वीर्य की प्रवृत्ति होती हो, उन्हे सयोगि कहते है। अर्थात् जो चार घनघातिकर्मो (ज्ञाना-

---

१ क्षपकश्रेणि का वर्णन उपशमनाकरण मे किया जा रहा है।

वरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अतराय) का क्षय करके केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर चुके है तथा पदार्थ को जानने-देखने मे इन्द्रिय, आलोक आदि की अपेक्षा नही रखते है और योग सहित है, उन्हे सयोगिकेवली कहते है और उनका स्वरूपविशेष सयोगिकेवलीगुणस्थान कहलाता है।

इस गुणस्थान का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है।

१४ **अयोगिकेवलीगुणस्थान**—जो केवली भगवान योगो से रहित है, वे अयोगिकेवली कहलाते हैं। अर्थात् जब सयोगिकेवली मन, वचन और काया के योगो का निरोध कर योगरहित होकर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते है, तब वे अयोगिकेवली कहलाते है और उनके स्वरूपविशेष को अयोगिकेवलीगुणस्थान कहते है।

इस गुणस्थान मे मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रारभ होती है और तीनो योगो का निरोध करने से अयोगि अवस्था प्राप्त होती है। सयोगि अवस्था मे तो केवली भगवान अपनी आयुस्थिति के अनुसार रहते हैं, लेकिन जिन सयोगिकेवली भगवान के चार अघातिकर्मो मे से आयुकर्म की स्थिति व पुद्गलपरमाणु की अपेक्षा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मो की स्थिति और पुद्गलपरिमाणु अधिक होते है, वे समुद्घात[1] करते है और इसके द्वारा वे वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति व पुद्गलपरमाणुओ को आयुकर्म की स्थिति व पुद्गलपरमाणुओ के बराबर कर लेते हैं। परन्तु जिन केवली भगवान के वेदनीय

---

१ तत्र सम्यग्—अपुनर्भावेन उत्-प्राबल्येन वेदनीयादिकर्मणा हनन-घात प्रलयो यस्मिन् प्रयत्नविशेषे स समुद्घात।

जिस प्रयत्नविशेष मे सम्यक् प्रकार से अथवा प्रमुख रूप से वेदनीय आदि कर्मो का क्षय किया जाता है, उसे समुद्घात कहते हैं।

आदि तीन अघातिकर्मों की स्थिति व पुद्गलपरमाणु आयुकर्म के बराबर है, उनको समुद्घात करने की आवश्यकता नही होती है। अतएव वे समुद्घात नही करते है। केवली भगवान द्वारा यह समुद्-घातक्रिया की जाती है, इसलिये इसे केवलिसमुद्घात कहते है।[1]

अतिम समय मे परम निर्जरा के कारणभूत तथा लेश्या से रहित अत्यन्त स्थिरता रूप ध्यान के लिये योगो का निरोध करते है। पहले वादर काययोग से बादर मनोयोग और बादर वचनयोग को रोकते फिर सूक्ष्म काययोग से वादर काययोग को रोकते है। अनन्तर उसी सूक्ष्म काययोग से क्रमश सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोग को रोकते है। अत मे सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्तिशुक्लध्यान से उस सूक्ष्म काय-योग को भी रोक देते है।

इस प्रकार सयोगिकेवली भगवान अयोगि बन जाते है। साथ ही उसी सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्तिशुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतरी पोले भाग को आत्मप्रदेशो से पूर्ण कर देते है। जिससे उनके आत्मप्रदेश इतने सकुचित घने वन जाते है कि वे शरीर के दो तिहाई भाग मे समा जाते है और बाद मे वे केवली भगवान समु-च्छिन्नक्रियाऽऽप्रतिपातिशुक्लध्यान को प्राप्त करते है और पच ह्रस्वाक्षर (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) के उच्चारण करने जितने समय में शैलेशीकरण करने के द्वारा चारो अघातिकर्मों का सर्वथा क्षय कर देते हैं और उक्त कर्मो का क्षय होते ही वे एक समय मात्र में ऋजु-गति से ऊपर की ओर सिद्धक्षेत्र मे चले जाते है। वहाँ परम पर-मात्मदशा का अनुभव करते हुए अनन्तकाल तक विराजमान रहते है।

उपर्युक्त चौदह गुणस्थानो का कालप्रमाण इस प्रकार है—

मिथ्यात्वगुणस्थान—अभव्य का अनादि-अनन्तकाल, भव्य का अनादि-सातकाल और सम्यक्त्व से पतित का सादि-सात—जघन्य से

---

१ केवलिसमुद्घात सम्बन्धी प्रक्रिया का विवरण परिशिष्ट मे देखिये।

अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट से देशोन पुद्गलपरावर्तनकाल है।

सासादनगुणस्थान—जघन्य से एक समय, उत्कृष्ट से छह आवलिका।

मिश्र, क्षीणमोह, अयोगिकेवली गुणस्थान—इन तीन का जघन्य उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। लेकिन अयोगिकेवली गुणस्थान के लिये इतना विशेष जानना चाहिये कि उसका समय पाच ह्रस्वाक्षर—अ, इ, उ, ऋ, लृ—उच्चारण प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान—जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट से साधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण।

देशविरत, सयोगिकेवली गुणस्थान—जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण।

प्रमत्तसयतादि उपशातमोह पर्यन्त गुणस्थान—इन छह गुणस्थानो का काल जघन्य से मरण की अपेक्षा एक समय, अन्यथा जघन्य-उत्कृष्ट दोनो प्रकार से अन्तर्मुहूर्त है।

इस प्रकार से गुणस्थानो के इस क्रमारोहण मे नर से नारायण होने का विधान अकित है। अव इनमे प्राप्त योगो का कथन प्रारम्भ करते है।

गुणस्थानो मे योग

'जोगाहार दुगूणा ' इत्यादि अर्थात् पूर्व मे योग के जो मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीन मूल भेदो के क्रमश चार, चार और सात भेदो के नाम बताये है, उनमे से यहाँ सर्वप्रथम मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि—इन तीन गुणस्थानो में योगो को वताया है कि आहारकद्विक—आहारक और आहारकमिश्र इन दो योगो के विना शेष तेरह योग होते है।

इन तीनो गुणस्थानो मे आहारकद्विक योग न पाये जाने का कारण यह है कि आहारकशरीर और आहारकमिश्र ये दोनो योग चारित्रसापेक्ष है और चौदह पूर्वधर सयत को ही होते है, किन्तु

इन गुणस्थानो मे सयम और चौदह पूर्व के ज्ञान का अभाव है। इसी कारण मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि—इन तीन गुण-स्थानो मे आहारकद्विक योगो का निषेध किया है। इनसे शेष रहे तेरह योगो की प्राप्तिक्रम इस प्रकार है—

कार्मणयोग विग्रहगति और उत्पत्ति के प्रथम समय मे, औदारिक-मिश्र और वैक्रियमिश्र —यह दो योग उत्पत्ति के द्वितीय समय से लेकर अपर्याप्त अवस्था तक तथा चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिककाययोग, वैक्रियकाययोग यह दस योग पर्याप्त अवस्था मे होते है। इस प्रकार कुछ मिलाकर तेरह योग मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि—इन तीन गुणस्थानो मे पाये जाते है।

'अपुव्वाइसु पचसु ' अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म-सपराय, उपशातमोह और क्षीणमोह इन पाच गुणस्थानो मे नौ-नौ योग होते है। वे नौ योग है— ओरालो मणवई य' अर्थात् औदारिक-काययोग, मनोयोगचतुष्क और वचनयोगचतुष्क। शेष छह योग न होने का कारण यह है कि ये पाचो गुणस्थान विग्रहगति, केवली-समुद्घात और अपर्याप्त-अवस्था मे नही पाये जाते है तथा अप्रमत्ता-वस्थाभावी है। अत कदाचित् कोई लब्धिसपन्न इन गुणस्थानो को प्राप्त करे भी तो इन गुणस्थानो मे प्रमादजन्य लब्धिप्रयोग सभव नही होने मे वक्रियद्विक और आहारकद्विक रूप चार योग नही होते है तथा औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग अनुक्रम से अपर्याप्त अवस्था एव विग्रहगति और केवलीसमुद्घात मे होते है। जिससे इन अपूर्वकरणादि पाच गुणस्थानो मे वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, औदारिकमिश्र और कार्मण इन छह योगो के सिवाय शेष नौ योग होते है।

तीसरे मिश्रगुणस्थान मे पूर्वोक्त नौ योगो के साथ वेउव्विणा-जुया'—वैक्रियकाय को मिलाने मे दस योग होते है और औदारिक-मिश्र, वैक्रियमिश्र, कार्मण, आहारकद्विक ये पाच योग नही होते है।

इसका कारण यह है कि यह तीसरा गुणस्थान पर्याप्त-अवस्था मे ही होता है, जिससे अपर्याप्त-अवस्थाभावी औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण योग सभव नही है तथा आहारकद्विक तो लब्धिसपन्न चौदह पूर्वधर को ही होते है और इस गुणस्थान मे चौदह पूर्वधर होता नही है, जिससे वे भी सभव नही है। इस प्रकार इन पाचो योगो को कम करने पर शेष चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिक और वैक्रिय काययोग ये दस योग ही मिश्रगुणस्थान मे सभव है।

मिश्रगुणस्थान मे वैक्रियमिश्रकाययोग न मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

प्रश्न—अपर्याप्त-अवस्थाभावी देव, नारक सम्बन्धी वैक्रियमिश्र-काययोग सभव न हो, परन्तु वैक्रियलब्धिधारी पर्याप्त मनुष्य, तिर्यचो के मिश्रदृष्टि होने पर वैक्रियशरीर भी सभव है। जिससे वे जब उसे प्रारम्भ करे तब उनको वैक्रियमिश्रकाययोग हो सकता है। इस अपेक्षा दृष्टि से मिश्रगुणस्थान मे वैक्रियमिश्रकाययोग मानना चाहिए। फिर उसका निषेध क्यो किया है ?

उत्तर—इस गुणस्थान वाले तथाविधयोग्यता का अभाव होने से वैक्रियलब्धि का उपयोग नही करते है। इसलिए यहाँ वैक्रिय-मिश्रयोग नही माना है।[1]

'ते जुया साहारगेण अपमत्ते' अर्थात् पूर्व में कहे गये औदारिक आदि नौ तथा वैक्रिय इन दस योगो के साथ आहारककाययोग

---

१ आचार्य मलयगिरिसूरि ने इसका विशेष स्पष्टीकरण न करते हुए यही बताया है कि—तेषा वैक्रियाकरणभावतोऽन्यतो वा कुतश्चित्कारणादाचा-र्येणान्यैश्च तन्नाभ्युपगम्यते, तन्न सम्यगवगच्छाम तथाविधसप्रदाया-भावात्।

इस गुणस्थान वाले वैक्रियलब्धि न करते हो, इसलिए अथवा →

को मिलाने पर अप्रमत्तसयत नामक सातवे गुणस्थान मे ग्यारह[४] योग पाये जाते है। अप्रमत्तसयतगुणस्थान मे यद्यपि किसी भी लब्धि का प्रयोग नही किया जाता है, किन्तु छठे प्रमत्तसयतगुण-स्थान मे वैक्रिय या आहारक लब्धि का प्रयोग करने के पश्चात् कोई इस अप्रमत्तसयतगुणस्थान मे जाये तो दोनो शुद्ध योग अर्थात् वैक्रिय और आहारक योग सभव है, मिश्र नही। क्योकि लब्धि करते और छोडते समय प्रमत्तदशा होती है, जिससे उस समय मिश्रयोग सभव है। इसीलिए अप्रमत्तसयतगुणस्थान मे वैक्रिय, आहारक सहित पूर्वोक्त औदारिक, मनोयोगचतुष्क, वचनयोगचतुष्क कुल ग्यारह योग माने जाते है।

'देसे दुविउव्विजुया' अर्थात् पूर्व मे जो अपूर्वकरण आदि पाच गुणस्थानो मे चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिक-काययोग कुल नौ योग बताये है, उनमे वैक्रिय और वैक्रियमिश्र काय-योग को और मिलाने से ग्यारह योग देशविरत नाम पाचवे गुणस्थान मे होते है।

इस गुणस्थान मे वैक्रियद्विक योग मानने का कारण यह है कि पाचवा गुणस्थान मनुष्य और तिर्यंचो मे होता है और यदि वे वैक्रियलब्धिसपन्न हो तो वैक्रियशरीर बना सकते है। तब उत्तर-वैक्रियशरीर बनाते समय वैक्रियमिश्र और बनाने के पश्चात् वैक्रिय योग होगा। किन्तु आहारकद्विक तथा औदारिकमिश्र और कार्मण योग न होने का कारण यह है आहारकद्विक पूर्ण सयमसापेक्ष है, किन्तु देशविरतगुणस्थान मे पूर्ण सयम नही है तथा अपर्याप्त-

---

अन्य किसी कारण से ग्रथकर्ता आचार्य तथा और दूसरे आचार्यो ने यहाँ वैक्रियमिश्र नही माना है। उसका वास्तविक कारण तथाविधसप्रदाय का अभाव होने से हम नही जान सके हैं।

४ गोम्मटसार जीवकाड गाथा ७०३ मे भी मिश्रगुणस्थान मे वै० मिश्रयोग नही बताया है।

अवस्था न होने से औदारिकमिश्र व कार्मण योग भी नही हो सकते है।

पाचवें गुणस्थान मे बताये गये ग्यारह योगो के साथ आहारक, आहारकमिश्र इन दोनो योगो को मिलाने पर प्रमत्तसयतगुणस्थान में कुल तेरह योग होते है—'आहारदुगेण य पमत्ते'।[1]

तेरह योग मानने का कारण यह है कि यह गुणस्थान मनुष्यो मे सभव है। अत मनोयोगचतुष्टय, वचनयोगचतुष्टय और औदारिक कुल नौ योग तो सब मनुष्यो मे साधारण है तथा इस गुणस्थान मे वैक्रिय और आहारक लब्धिसपन्न मुनियो को वैक्रियद्विक और आहारकद्विक होते है। वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र ये दो योग वैक्रियशरीर और आहारकशरीर के प्रारम्भ और परित्याग के समय पाये जाते है और उसके सिवाय शेष लब्धिकाल मे वैक्रिय और आहारक योग होते है। इसलिए प्रमत्तसयतगुणस्थान मे तेरह योग माने है।

इस प्रकार से अभी तक पहले मिथ्यात्वगुणस्थान से लेकर बारहवे क्षीणमोहगुणस्थान तक बारह गुणस्थानो मे योग का विचार किया गया। अब शेष रहे तेरहवें और चौदहवे गुणस्थान मे योगो का निर्देश करते है—

'अज्जोगो अज्जोगी' अर्थात् अयोगिकेवली नामक चौदहवे गुणस्थान मे सूक्ष्म या बादर कोई भी योग नही होता है। क्योंकि अयोगि-अवस्था का कारण योग का अभाव ही है। अर्थात् जब अयोगि-अवस्था मे योग का अभाव ही है तो फिर योग के भेदो मे

---

१ दिगम्बर कर्मग्रथो मे पाचवें और सातवें गुणस्थान मे औदारिककाययोग, चार मनोयोग, चार वचनयोग कुल नौ योग तथा छठे गुणस्थान मे औदारिक-काययोग, आहारकद्विक, चार मनोयोग, चार वचनयोग कुल ग्यारह योग बताये हैं।

—गोम्मटसार, जीवकाड, गाथा ७०३

से किसी भी योग का सद्भाव कैसे माना जा सकता है ? इसलिए चौदहवे गुणस्थान मे कोई भी योग नही होता है, वह तो योगातीत अवस्था है—'अज्जोगो अज्जोगी'।

लेकिन सयोगिकेवलीगुणस्थान मे—'सत्त सजोगमि होति'—सात योग होते है । जिनके नाम है—सत्यमनोयोग, असत्यामृषा-मनोयोग, सत्यवचनयोग, असत्यामृषावचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग—'दो दो मणवइ जोगा उरालदुग सकम्मइग'।

इनमें से औदारिकमिश्र केवलिसमुद्घात के दूसरे, छठे और सातवे समय मे तथा कार्मण तीसरे, चौथे और पाचवे समय मे होते है। शेष रहे पाच योगो मे से औदारिककाययोग विहार आदि की प्रवृत्ति के समय मे, वचनयोगद्वय देशनादि के समय तथा मनोयोग-द्वय मनपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तार देवो के मन द्वारा पूछे गये प्रश्नो का उत्तार देते समय होते है।

इस प्रकार गुणस्थान मे योगो का निर्देश जानना चाहिए।[1] अब योगो की तरह गुणस्थानो मे उपयोग का विवेचन करते है।

गुणस्थानो मे उपयोग

अचक्खुचक्खुदसणमन्नाणतिग च मिच्छसासाणे ।
विरयाविरए सम्मे नाणतिग दसणतिग च ॥१६॥
मिस्समि वामिस्स मणनाणजुय पमत्तपुव्वाण ।
केवलियनाणदसण उवओगा अजोगिजोगीसु ॥२०॥

शब्दार्थ—अचक्खुचक्खुदसण—अचक्षु-चक्षुदर्शन, अन्नाणतिग—अज्ञान-त्रिक, च—और, मिच्छ—मिथ्यात्व, सासाणे— सासादन मे, विरयाविरए—

---

१ दिगम्बरसाहित्य मे वर्णित गुणस्थानो मे योग-निर्देश को परिशिष्ट मे देखिये।

विरताविरत (देशविरत) मे, सम्मे—अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान मे, नाण-तिग—तीन ज्ञान, दसणतिग—तीन दर्शन, च— और ।

मिस्समि—मिश्रगुणस्थान मे, वामिस्स—व्यामिश्र-मिश्रित, मणनाण-जुय—मनपर्यायज्ञान सहित, पमत्तपुव्वाण—प्रमत्त है पूर्व मे जिनके अर्थात् प्रमत्तसयत आदि गुणस्थानो मे, केवलियनाणदसण—केवलज्ञान केवलदर्शन, उवओगा—उपयोग, अजोगिजोगीसु—अयोगि और सयोगि केवली गुण-स्थान मे ।

गाथार्थ—मिथ्यात्व, सासादन गुणस्थान मे अज्ञानत्रिक और अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन ये पाच उपयोग तथा अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत गुणस्थान मे तीन ज्ञान और तीन दर्शन इस प्रकार छह उपयोग होते हैं ।

मिश्रगुणस्थान मे पूर्वोक्त छह उपयोग (अज्ञान से) मिश्रित होते है । प्रमत्त आदि क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थानो मे मन-पर्याय सहित सात उपयोग तथा अयोगि व सयोगि केवली गुण-स्थान मे केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं ।

विशेषार्थ—उपयोग के बारह भेदो के नाम पूर्व मे बताये जा चुके हैं । उनमे से प्रत्येक गुणस्थान मे प्राप्त उपयोगो का निर्देश करते हुए कहा है कि 'मिच्छेसासाणे'—मिथ्यात्व और सासादन नामक पहले दूसरे दो गुणस्थानो मे अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन और अज्ञानत्रिक—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभगज्ञान इस प्रकार कुल मिलाकर पाच उपयोग होते हैं । आदि के इन दो गुणस्थानो मे मति-अज्ञान आदि अज्ञानत्रिक, और चक्षु, अचक्षु दर्शन ये पाच उपयोग मानने का कारण यह है कि इन दोनो गुणस्थानो मे सम्यक्त्वसहचारी मतिज्ञान आदि पाच ज्ञान, अवधिदर्शन, केवलदर्शन ये सात उपयोग नही होते हैं ।[1]

---

1 सिद्धान्त के मतानुसार यहाँ अवधिदर्शन भी सभव है । इसका स्पष्टीकरण →

अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत नामक चौथे और पाचवें गुणस्थान में 'नाणतिग दसगतिग'— ज्ञानत्रिक– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और दर्शनत्रिक—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन

करते हुए टीकाकार आचार्य मलयगिरिसूरि ने बताया है कि—श्रुतविदो ने यहाँ किस अभिप्राय से अवधिदर्शन नही माना है, यह हम समझ नही सके हैं। क्योकि भगवतीसूत्र (८/२) मे स्पष्ट रूप से कहा है कि—

हे प्रभो ! अवधिदर्शनी अनाकार उपयोगी ज्ञानी है या अज्ञानी ?

हे गौतम ! ज्ञानी भी है और अज्ञानी भी। जो ज्ञानी होते है तो कोई तीन ज्ञान वाले होते हैं और कोई चार ज्ञान वाले। जो तीन ज्ञान वाले है वे मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी होते है और जो चार ज्ञान वाले है वे मति, श्रुत, अवधि और मनपर्याय ज्ञानी होते हैं। किन्तु जो अज्ञानी होते है वे नियम से मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभगज्ञानी होते हैं।

इस प्रकार सूत्र मे मिथ्यादृष्टि विभगज्ञानियो को भी अवधिदर्शन स्पष्ट रूप से बताया है। क्योकि जो अज्ञानी होता है वह मिथ्यादृष्टि ही होता है। जब अवधिज्ञानी सासादनभाव को अथवा मिश्रभाव को प्राप्त करे तब वहाँ भी अवधिदर्शन होता है। अर्थात् जैसे अवधिज्ञानोपयोग के समय अवधिज्ञानी को प्रथम सामान्यरूप अवधिदर्शन होता है, वैसे ही विभग-ज्ञानोपयोग के पूर्व विभगज्ञानी को भी अवधिदर्शन मानना चाहिये।

भगवतीसूत्र का पाठ इस प्रकार है—

'ओहिदसणअणागारोवउत्ताण भते ! किं नाणी अन्नाणी ?

गोयमा ! नाणीवि अन्नाणीवि। जइ नाणी ते अत्थेगइया तिनाणी, अत्थेगइया चउनाणी। जे तिण्णाणी ते आभिणिवोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी। जे चउनाणी ते आभिणिवोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवणाणी। जे अण्णाणि ते नियमा मइअण्णाणी सुयअण्णाणी विभगनाणी।

दिगम्बर कार्मग्रथिको ने भी आदि के दो गुणस्थानो मे अज्ञानत्रिक, दर्शन, अचक्षुदर्शन ये पाच उपयोग माने है।

इस तरह कुल मिलाकर छह उपयोग होते है। ये दोनो गुणस्थान सम्यक्त्वसहचारी है, अत मिथ्यात्व न होने से मिथ्यात्वनिमित्तक तीन अज्ञान तथा सर्वविरति न होने से मनपर्यायज्ञान और घातिकर्मो का अभाव न होने से केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन यह छह उपयोग सभव नही हैं। जिससे शेष रहे मतिज्ञान आदि छह उपयोग होते है।

'मिस्सम्मि' अर्थात् मिश्रगुणस्थान मे भी यही पूर्वोक्त छह उपयोग होते है, यानी तीन ज्ञान और तीन दर्शन उपयोग होते हैं। लेकिन इतनी विशेषता है कि वे 'वामिस्स'—मिश्रित होते है, यानी अज्ञानमिश्रित होते है। इसका कारण यह है मिश्रगुणस्थान मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनो के अश होते है। उनमे से जब किसी समय सम्यक्त्वाश का बाहुल्य होता है, उस समय सम्यक्त्व की अधिकता है और यदि मिथ्यात्वाश की अधिकता हो तो मिथ्यात्व अधिक रहता है और यदि किसी समय दोनो अशो की समानता हो तो सम्यक्त्व और मिथ्यात्व अश समान रहता है। इसीलिये जब सम्यक्त्व अश अधिक होता है तब ज्ञान का अश अधिक और अज्ञान का अश अल्प होता है तथा जब मिथ्यात्वाश का बाहुल्य हो तब अज्ञानाश अधिक और ज्ञान का अश अल्प होता है, किन्तु दोनो अशो के समान होने पर ज्ञान और अज्ञान दोनो समप्रमाण मे होते हैं। इसी कारण मिश्रगुणस्थान मे अज्ञानमिश्रित तीन ज्ञान और तीन दर्शन इस प्रकार छह उपयोग समझना चाहिए—'मिस्सम्मि वामिस्स'।

मिश्रगुणस्थान मे अवधिदर्शन मानने का कथन सिद्धान्त की अपेक्षा समझना चाहिए। कर्मसिद्धान्तवादियो मे कुछ आचार्य अवधिदर्शन नही मानते हैं।

इस प्रकार से प्रथम पाच गुणस्थानो मे उपयोगो का कथन करने के पश्चात् अब शेष गुणस्थानो में उपयोगो का निरूपण करते है।

जिसका सुगमता मे बोध कराने के लिए इन गुणस्थानो के दो वर्ग बनाये है। प्रथम वर्ग मे छद्मस्थ-अवस्थाभावी प्रमत्तसयत आदि क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थान है और द्वितीय वर्ग में निरावरण-अवस्था मे प्राप्त सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन दो गुणस्थानो का समावेश है।

प्रथम वर्ग के गुणस्थानो मे उपयोगो का कथन करने के लिए गाथा मे पद दिया है 'पमत्तपुव्वाण' अर्थात् पूर्व मे पहले से लेकर पाचवे तक जिन पाच गुणस्थानो मे उपयोगो का विचार किया जा चुका है, उनमे शेप रहे छद्मस्थभावी प्रमत्तसयत आदि क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थानो मे पूर्वोक्त सम्यक्त्वसहचारी तीन ज्ञान और तीन दर्शन इन छह उपयोगो के साथ सर्वविरतिसहचारी 'मणनाणजुय'—मनपर्यायज्ञान को मिलाने पर सात उपयोग होते हैं।

इन सात गुणस्थानो मे अज्ञानत्रिक और केवलद्विक इन पाच उपयोगो को नही मानने का कारण यह है कि मिथ्यात्व का अभाव होने मे मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभगज्ञान यह तीन अज्ञान नही पाये जाते है तथा अभी घातिकर्मों का क्षय न होने से केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग भी सभव नही है। इसीलिए इन पाच को छोडकर शेष सात उपयोग इनमे समझना चाहिए। तथा—

'अजोगिजोगीसु' अर्थात् निरावरण-अवस्था मे पाये जाने वाले अयोगि और सयोगि केवली नामक इन दोनो गुणस्थानो मे कैवलिक ज्ञान-दर्शन यानि केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते हैं। घातिकर्मों का क्षय होने से छद्मस्थ-अवस्थाभावी मतिज्ञान आदि सात ज्ञानोपयोग तथा चक्षुदर्शन आदि तोन दर्शनोपयोग कुल दस उपयोग नही होते है। इसीलिए इन केवलीद्विक गुणस्थानो मे केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग माने जाते है।

केवलीद्विक गुणस्थानो मे केवलज्ञान-दर्शन यही दो उपयोग मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

प्रश्न—अपने-अपने आवरण का देश—आशिक क्षयोपशम होने और ज्ञानावरण, दर्शनावरण का उदय होने पर जैसे जीवो को मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय ज्ञानोपयोग, अचक्षु, चक्षु, अवधि दर्शनोपयोग होते है, तो उसी प्रकार स्व-आवरण का सर्वक्षय होने पर वे केवलज्ञान, केवलदर्शन के समान क्यो नही हो जाते हैं ?

उत्तर—ये उपयोग क्षायोपशमिक हैं। क्षायोपशमिक भाव का अभाव नही होता है। क्षायोपशमिक उपयोगो का देशावरण क्षय ही सभव है। जैसे कि मेघ से आच्छादित सूर्य का चटाई के छिद्रो मे प्रविष्ट प्रकाश घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार केवलज्ञानावरण से आवृत केवलज्ञान का प्रकाश मति आदि आवरणो के छिद्रो से निकलकर अपने-अपने नाम को धारण करके जीवादि पदार्थों को प्रकाशित करता है और चटाई के नष्ट होने पर जैसे छिद्रो का भी नाश हो जाता है, उसी प्रकार सर्वावरण दूर होने पर क्षयोपशमजनित छिद्रो का भी अपगम हो जाता है। केवलज्ञान के अति निर्मल होने तथा केवलज्ञानावरण का क्षय होने से उसका प्रकाश मद नही होता है। इसीलिए वे उपयोग नही होते है।

इस प्रकार से गुणस्थानो मे उपयोगो का कथन समझना चाहिए। अब योगोपयोगमार्गणा अधिकार के विवेचनीय विषयो मे मे शेष रहे मार्गणास्थानो मे जीवस्थानो और गुणस्थानो का निर्देश करने के लिए ग्र थकार आचार्य पहले मार्गणास्थानो के नाम बतलाते है।

मार्गणास्थानो के नाम व भेद

गइ इदिए य काए जोए वेए कसाय नाणे य।
सजमदसणलेसा भव्व सन्नि सम्म आहारे ॥२१॥

शब्दार्थ—गइ—गति, इदिए—इन्द्रिय, य—और, काए—काय, जोए—योग, वेए—वेद, कसाय—कषाय, नाणे—ज्ञान, य—और, सजमदसणलेसा—सयम दर्शन और लेश्या, भव्व—भव्य, सन्नि—सज्ञी, सम्म—सम्यक्त्व, आहारे—आहार।

गाथार्थ—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सज्ञी, सम्यक्त्व और आहार ये मार्गणा के मूल चौदह भेद है।

विशेषार्थ—गाथा मे मूल चौदह मार्गणाओ के नाम वताये है। यद्यपि पूर्व मे इनके उत्तर भेदो का नाम सहित विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। लेकिन ग्रथकार आचार्य ने स्वोपज्ञवृत्ति मे मध्यम दृष्टि से इस प्रकार उत्तर भेदो की सख्या वतलाई है—चार, पाच, दो, तीन, तीन, चार, आठ, पाच अथवा एक, चार, छह, दो, दो, दो और दो। जिसका आशय यह हुआ कि गति आदि मूल मार्गणाओ के साथ यथाक्रम से सख्या की योजना करके प्रत्येक मार्गणा के उतने-उतने भेद समझ लेना चाहिए, अर्थात् गतिमार्गणा के चार भेद, इन्द्रियमार्गणा के पाच भेद इत्यादि।[1]

अब इन मार्गणास्थानो मे जीवस्थानो का विचार करते है।

---

१ ग्रथकार आचार्य ने सयममार्गणा के पाच अथवा एक भेद वतलाये है। ये कथन अपेक्षा मे जानना चाहिए कि यदि सयम को सामान्य से ग्रहण करें तो अन्य भेद सभव नही होने से एक भेद होगा और विना प्रतिपक्ष के शुद्ध सयम के विशेप मे सामायिक आदि यथाख्यात पर्यन्त पाच भेद करने पर पाच भेद होंगे। पहले जो सयममार्गणा के सात भेद वतलाये है उनमे शुद्ध सयम भेदो के साथ तत्प्रतिपक्षी अविरत और एकदेश-सयम देशविरत का भी ग्रहण किया है। यह सव कथन सक्षेप व विस्तार की दृष्टि से समझना चाहिये।

मार्गणास्थानो मे जीवस्थान

तिरियगइए चोद्दस नारयसुरनरगईसु दो ठाणा ।
एगिंदिएसु चउरो विगलपणिंदीसु छच्चउरो ॥२२॥

शब्दार्थ—तिरियगइए—तिर्यञ्चगति मे, चोद्दस—चौदह, नारयसुरनरगईसु—नरक, देव और मनुष्य गति में, दो ठाणा—दो जीवस्थान, एगिंदिएसु—एकेन्द्रियो में, चउरो—चार, विगलपणिंदीसु—विकलेन्द्रियो और पचेन्द्रियो में, छच्चउरो—छह और चार।

गाथार्थ—तिर्यचगति मे चौदह, नरक, देव और मनुष्य गति मे दो, एकेन्द्रिय मे चार, विकलेन्द्रियो मे छह और पचेन्द्रियो मे चार जीवस्थान होते है।

विशेषार्थ—मार्गणास्थानो मे जीवस्थानो का निर्देश प्रारम्भ करते हुए गाथा मे गति और इन्द्रिय मार्गणा के चार और पाच भेदो मे प्राप्त जीवस्थानो को बतलाया है—

'तिरियगइए चोद्दस'—तिर्यंचगति मे सभी चौदह जीवस्थान होते है। क्योकि एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के सभी भेद तिर्यचगति मे सम्भव होने से जीवस्थानो के सभी चौदह भेद इसमे पाया जाना स्वाभाविक है। इसीलिए तिर्यचगति मे सभी चौदह जीवस्थान माने जाते है तथा गतिमार्गणा के नरक, देव और मनुष्य इन तीनो भेदो मे से प्रत्येक मे 'दो ठाणा'—पर्याप्त-अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय रूप दो-दो जीवस्थान होते है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नरक और देव गति मे सज्ञीद्विक (अपर्याप्त-पर्याप्त) जीवस्थान मानने का कारण यह है कि नरक और देव गति मे वर्तमान कोई जीव असज्ञी नही होते है। चाहे वे पर्याप्त हो या अपर्याप्त, किन्तु सभी सज्ञी होते हैं। इसलिए इन दो गतियो मे अपर्याप्त, पर्याप्त सज्ञीद्विक जीवस्थान माने है।

यहाँ प्रयुक्त अपर्याप्त शब्द करण-अपर्याप्त के लिये समझना चाहिये। क्योकि देव और नरक गति मे लब्धि-अपर्याप्त रूप से कोई उत्पन्न नही होता है।

मनुष्यगति में भी यही जो दो जीवस्थान बतलाए है, वे नारक और देवो के समान करण-अपर्याप्त और समनस्क—मन सहित की विवक्षा करके समझना चाहिये। क्योकि नारक और देव तो लब्धि-अपर्याप्त होते ही नही है, वे करण-अपर्याप्त होते है, लेकिन मनुष्य करण-अपर्याप्त और लब्धि-अपर्याप्त दोनो प्रकार के सभव है। अतः लब्धि-अपर्याप्त को ग्रहण करके यदि मनुष्यगति मे जीवस्थानो का विचार किया जाये तो पूर्वोक्त दो जीवस्थानो के साथ अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय इस तीसरे जीवस्थान को मिलाने पर तीन जीवस्थान सभव है।

मनुष्यगति मे अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थान मानने का कारण यह है कि मनुष्य दो प्रकार के होते है—गर्भज और सम्मूर्च्छिम। गर्भज मनुष्य तो सज्ञी ही होते है और वे अपर्याप्त और पर्याप्त दोनो प्रकार के पाये जाते है। लेकिन सम्मूर्च्छिम मनुष्य ढाई द्वीप-समुद्र मे गर्भज मनुष्यो के मल-मूत्र आदि मे पैदा होते है और जिनकी आयु अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होती है एव अपनी योग्य पर्याप्तियो को पूर्ण किये बिना ही मर जाते है। ऐसे सम्मूर्च्छिम मनुष्यो की अपेक्षा अपर्याप्त असज्ञी जीवस्थान को मिलाने पर मनुष्यगति मे अपर्याप्त-पर्याप्त सज्ञीद्विक और अपर्याप्त असज्ञी यह तीन जीवस्थान पाये जाते है।[1]

---

१ कहिण भते। सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छति?
गोयमा! अतोमणुस्सखेत्ते पणयालीसाए जोयण मयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु, पन्नरससु कम्मभूमीसु, तीसाए अकम्मभूमीसु, छप्पन्नाए अतर-दीवेसु, गब्भवक्कतियमणुस्साण चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा

गतिमार्गणा के चार भेदो मे जीवस्थानो का विचार करने के पश्चात् अब इन्द्रियमार्गणा के भेदो मे जीवस्थानो को बतलाते है—

इन्द्रियमार्गणा—'एगिंदिएसु चउरो'—अर्थात् एकेन्द्रियमार्गणा मे अपर्याप्त-पर्याप्त सूक्ष्म, बादर एकेन्द्रिय रूप चार जीवस्थान होते है। क्योकि इनके सिवाय अन्य किसी जीवस्थान मे एकेन्द्रिय जीव नही पाये जाते है तथा 'विगलपणिंदीसु छच्चउरो'—अर्थात् विकलेन्द्रिय-त्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इन्द्रियमार्गणा के इन तीन भेदो मे अपर्याप्त-पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप छह जीवस्थान होते है। क्योकि ये पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के है। इसलिए द्वीन्द्रिय के दो—अपर्याप्त-पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय के दो—अपर्याप्त-पर्याप्त त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के दो—अपर्याप्त-पर्याप्त चतुरिन्द्रिय जीवस्थान होते है। जिनका योग छह है। इसीलिये विकलेन्द्रियत्रिक मे छह जीवस्थान माने है और पचेन्द्रियमार्गणा मे अपर्याप्त सज्ञी, पर्याप्त सज्ञी, अपर्याप्त असज्ञी, पर्याप्त असज्ञी यह चार जीवस्थान होते है।

सिंघाणेसु वा वतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा थीपुरिससजोगेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु एत्थ वा सम्मुच्छिम मणुस्सा समुच्छति अगुलस्स असखेज्जभागमित्ताए ओगाहणाए, असन्नी मिच्छा-दिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अतोमुहुत्तद्धाउया चेव काल करति त्ति।

दिगम्बर कर्मग्रन्थो में मनुष्यगति में सज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त ये दो जीव-स्थान माने है। शेष तीन गतिमार्गणाओ के जीवस्थानो की सख्या में अन्तर नही है—णिरयणरदेवगइसु सण्णीपज्जत्तया अपुण्णा य।

—पचसग्रह, शतकाधिकार गा ८

इस प्रकार से गति और इन्द्रिय मार्गणा मे जीवस्थानो का विचार करने के पश्चात् अब आने की गाथा मे काय और योग मार्गणा के भेदो मे जीवस्थानो का निर्देश करते है—

दस तसकाए चउचउ थावरकाएसु जीवठाणाइ ।
चत्तारि अट्ठ दोन्नि य कायवई माणसेसु कमा ॥२३॥

शब्दार्थ—दस—दस, तसकाए—त्रसकाय, चउचउ—चार-चार, थावर-काएसु—स्थावरकाय में, जीवठाणाइ—जीवस्थान, चत्तारि—चार, अट्ठ—आठ, दोन्नि—दो, य—और, कायवई—काय और वचन योग, माणसेसु—मनोयोग में, कमा— क्रम से ।

गाथार्थ—त्रसकाय मे दस, स्थावरकाय मे चार-चार और काययोग, वचनयोग और मनोयोग मे अनुक्रम से चार, आठ और दो जीवस्थान होते है ।

विशेषार्थ—कायमार्गणा और योगमार्गणा के उत्तरभेदो मे जीव-स्थानो के निर्देश का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'दस तसकाए' अर्थात् त्रसकाय मे दस जीवस्थान है । त्रस नाम-कर्म के उदय वाले जीवो का त्रस कहते है और त्रस नामकर्म का उदय द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त के जीवो मे होता है । अतः जीवस्थानो के चौदह भेदो मे से एकेन्द्रिय सम्बन्धी अपर्याप्त, पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एकेन्द्रिय इन चार जीवस्थानो को छोडकर शेप दस जीवस्थान त्रसकाय मे होते है । जिनके नाम इस प्रकार है—अपर्याप्त-पर्याप्त के भेद से प्रत्येक दो-दो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरि-न्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय । इन सवका जोड़ दस होता है ।

'चउ-चउ थावरकाएसु' अर्थात् स्थावरकायमार्गणा मे चार-चार जीवस्थान जानना चाहिये । ग्रथकार आचार्य ने विस्तार से स्थावरो के पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति यह पाच भेद न

करके सामान्य से स्थावरपद मे ग्रहण करके चार-चार जीवस्थान बतलाये हैं।

जिनको स्थावरनामकर्म का उदय हो उन्हे स्थावर कहते है और इनके सिर्फ पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है। अत एकेन्द्रिय मे पाये जाने वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त यह चार जीवस्थान स्थावरकाय के इन पाच भेदो मे भी समझना चाहिये।

ग्रथकार आचार्य ने योगमार्गणा मे जीवस्थानो का विचार परस्पर निरपेक्ष अलग-अलग योगो मे किया है कि केवल काययोग मे अप-र्याप्त-पर्याप्त सूक्ष्म बादर एकेन्द्रिय रूप चार जीवस्थान पाये जाते है। क्योकि एकेन्द्रिय सिर्फ काययोग वाले ही होते है। मनोयोगरहित वचनयोग मे पर्याप्त अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय रूप आठ जीवस्थान है और मनोयोग मे अपर्याप्त-पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय ये दो जीवस्थान होते हैं।[1]

---

1 यद्यपि गाथा ६ मे जीवस्थानो के योगो का निर्देश करते हुए बताया है कि पर्याप्त विकलेन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय मे काययोग और वचनयोग, सज्ञी पर्याप्त मे सभी योग और शेष जीवो मे काययोग होता है। इस प्रकार पर्याप्त चार जीवभेदो मे वचनयोग, एक मे मनोयोग और शेष नौ भेदो में काययोग माना है। लेकिन यहाँ काययोग मे चार, वचनयोग में आठ और मनोयोग में दो जीवस्थान बतलाये हैं। इस प्रकार परस्पर विरोध है। जिसका परिहार यह है कि—पूर्व में (गाथा ६ में) लब्धि-अपर्याप्त की विवक्षा करके उनके क्रिया का समाप्तिकाल न होने से उसकी गौणता मान करके लब्धि-अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि चार भेदो में वचनयोग और सज्ञी अपर्याप्त में मनोयोग की विवक्षा नही की है। जबकि यहाँ लब्धि-पर्याप्त की विवक्षा होने से करण-अपर्याप्त अवस्था में उन लब्धि-पर्याप्त जीवो के करण-पर्याप्त जीवो की तरह क्रिया का आरभकाल और →

यद्यपि ग्रथकार आचार्य ने वचनयोगमे आठ जीवस्थान बतलाये है लेकिन एक दूसरी दृष्टि से विचार करने पर पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय ये पाच जीवस्थान होगे। इसका कारण यह है कि पर्याप्त अवस्था मे स्वर अथवा शब्दोचारण सभव है, उससे पूर्व नही तथा वचन का सम्बन्ध भाषापर्याप्ति से है। भाषापर्याप्ति एकेन्द्रियो के होती नही है। उनमे आदि की चार—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिया होती है और द्वीन्द्रियादि मे भाषापर्याप्ति होती है। जब वे स्वयोग्य पर्याप्तिया पूर्ण कर लेते है, तब उनमे भाषापर्याप्ति पूर्ण हो जाने से वचनयोग हो सकता है। इसीलिए वचनयोग मे पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि पाच जीवस्थान मानना चाहिये।

योगमार्गणा के भेदो मे पूर्वोक्त प्रकार से जीवस्थानो को बताने के प्रसग मे यह भी जान लेना चाहिये कि केवल काययोग, वचनयोग और मनोयोग की विवक्षा होने से इस प्रकार के जीवस्थान घटित होते है। लेकिन सामान्यत. काययोग सभी ससारी जीवो को होने से उसमे सभी चौदह जीवस्थान पाये जायेगे। वचनयोग मे एकेन्द्रिय के चार भेदो के सिवाय दस और मनोयोग मे तो सज्ञी पचेन्द्रिय

समाप्तिकाल एक मानकर अपर्याप्त द्वीन्द्रियादिक चार में भी वचनयोग और सज्ञी अपर्याप्त में मनोयोग बताया है—

पूर्वसूत्र लब्ध्यपर्याप्तकविवक्षातोनिष्ठाकाला प्राधान्याच्चोक्तम्, उत्तरसूत्र तु करणापर्याप्तकाना पर्याप्तकवद्दर्शनात् क्रियाकालनिष्ठाकालयोश्च कथञ्चिदभेदादित्यविरोध इति।

—पचसग्रह स्वोपज्ञवृत्ति, पृ ३६

दिगम्बर साहित्य मे मनोयोग मे एक सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान बतलाया है—मणजोए सण्णीपज्जत्तओ दु णायव्वो।

—दि० पचसग्रह ४/११

पर्याप्त-अपर्याप्त यह दो जीवस्थान पाये जायेंगे। परन्तु यहाँ मनोयोग वालो को वचनयोग और काययोग की एव वचनयोग वालो को काय-योग की गौणता करके उनकी विवक्षा नही की है। जिससे मनोयोग मे दो, वचनयोग मे आठ और काययोग मे चार जीवस्थान बत-लाये है। अपर्याप्त अवस्था मे वचनयोग और मनोयोग की विवक्षा उनको ये योग होने की अपेक्षा समझना चाहिये। यहाँ अपर्याप्त शब्द से करण-अपर्याप्त को ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा क्रिया-त्मक रूप मे तो ये दो योग सभी पर्याप्तियो से पर्याप्त होने के पश्चात् ही होते हैं। तथा—

चउचउ पुमित्थिवेए सव्वाणि नपु ससपराएसु।
किण्हाइतिगाहारगभव्वाभव्वे य मिच्छे य ॥२४॥

शब्दार्थ—**चउचउ**—चार-चार, **पुमित्थिवेए**—पुरुप और स्त्रीवेद में, **सव्वाणि**—सभी, **नपु ससपराएसु**—नपु सकवेद और कषायो में, **किण्हाइतिग**—कृष्णादि तीन लेश्या, **आहारगभव्वाभव्वे**—आहारक, भव्य और अभव्य, **य**—और, **मिच्छे**—मिथ्यात्व में, **य**— और।

गाथार्थ—पुरुष और स्त्री वेद मे चार-चार, नपु सकवेद, कपाय, कृष्णादि तीन लेश्याओ, आहारक, भव्य, अभव्य और मिथ्यात्व मे सभी जीवस्थान होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे वेद, कपाय, लेश्या, आहारक, भव्य और सम्यक्त्व इन पाच मार्गणा के यथायोग्य भेदो मे जीवस्थानो का निर्देश किया है।

वेदमार्गणा—सर्वप्रथम वेदमार्गणा के तीन भेदो मे से स्त्रीवेद और पुरुपवेद इन दो भेदो मे जीवस्थानो को बतलाया है—'चउ-चउ पुमित्थिवेए'—पुरुपवेद और स्त्रीवेद मे अपर्याप्त-पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय रूप चार-चार जीवस्थान होते हैं। अर्थात् पुरुपवेद मे प्राप्त चार जीवस्थानो के जो नाम है वही चार

नाम स्त्रीवेद मे पाये जाने वालों के भी है। यहाँ अपर्याप्त का मतलब करण-अपर्याप्त है, लब्धि-अपर्याप्त नही, क्योकि लब्धि-अपर्याप्त को तो नपु सकवेद ही होता है।

यद्यपि सिद्धान्त मे असज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनो जीव भेदो मे मात्र नपु सक वेद बताया है[1] और यहाँ कार्मग्रथिको ने स्त्री और पुरुष ये वेद माने है। लेकिन इसमे किसी प्रकार का विरोध नही है। क्योकि सिद्धान्त का कथन भाववेद की अपेक्षा से और कार्मग्रथिको का कथन द्रव्यवेद की अपेक्षा से है। अर्थात् भाव से तो इनमे नपु सकवेद होता है और यहाँ पुरुषवेद और स्त्रीवेद उनमें मात्र स्त्री और पुरुष लिंग का आकार होने के आधार से बताया है।

नपु सकवेद, क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय, कृष्णलेश्या, नील-लेश्या, कपोतलेश्या, आहारक, भव्य, अभव्य, मिथ्यादृष्टि तथा च शब्द से ग्रहीत असयम इन तेरह मार्गणाओ में सभी चौदह जीव-स्थान होते हैं। इन तेरह मार्गणाओ मे सभी जीवस्थान इसलिये माने जाते है कि सभी प्रकार के जीवो मे इन तेरह मार्गणाओ गत आतरिक भाव सभव हैं। तथा—

तेउलेसाइसु दोन्नि सजमे एक्कमट्ठमणहारे।
सण्णी सम्ममि य दोन्नि सेसयाइ असनिम्मि ॥२५॥

शब्दार्थ—तेउलेसाइसु—तेजो आदि तीन लेश्याओ मे, दोन्नि—दो, सजमे—सयम मे, एक्क—एक, अट्ठ—आठ, अणहारे—अनाहारक मे,

---

1 तेण भते। असन्निपचेन्दियतिरिक्खजोणिया किं इत्थिवेयगा, पुरिसवेयगा, नपु सगवेयगा?

गोयमा! नोइत्थिवेयगा नोपुरिसवेयगा, नपु सगवेयगा।

—भगवती ५

सण्णी—सज्ञी, सम्मम्मि—सम्यक्त्व में, य—और, दोन्नि—दो, सेसयाइं—शेष, असन्निम्मि—असज्ञी में।

गाथार्थ—तेजो आदि तीन लेश्याओ मे दो, सयम मे एक, अनाहारक मे आठ, सज्ञी और सम्यक्त्व मे दो और असज्ञी मे शेष रहे जीवस्थान होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे लेश्यामार्गणा के भेद तेजोलेश्या आदि तीन शुभ लेश्याओ तथा सयम, अनाहारक, सज्ञी, सम्यक्त्व मार्गणाओ मे सभव जीवस्थानो का निर्देश किया है।

कृष्णादि तीन भेदो से शेष रहे लेश्या के तेज, पद्म और शुक्ल इन तीन शुभ भेदो मे अपर्याप्त-पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय रूप दो जीवस्थान होते है—'तेउलेसाइसु दोन्नि'। यहाँ अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त ग्रहण करना चाहिये। क्योकि लब्धि-अपर्याप्तको के तो कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ लेश्याये होती है तथा गाथा के उत्तरार्ध मे आगत 'य-च' शब्द से अनुक्त अर्थ का समुच्चय करके यह आशय ग्रहण करना चाहिये कि करण-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवो को भी तेजोलेश्या पाई जाती है। इस दृष्टि से तेजोलेश्या में बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान सभव होने से कुल मिलाकर तीन जीवस्थान प्राप्त होते है।

बादर एकेन्द्रिय जीवो के अपर्याप्त अवस्था मे तेजोलेश्या इस अपेक्षा मे मानी जाती है कि जब कोई भवनपति, व्यतर, ज्योतिष्क, सौधर्म और ईशान देवलोक के देव[1] जिनमे तेजोलेश्या सभव है, मरकर बादर पर्याप्त पृथ्वी, जल या वनस्पति काय मे उत्पन्न होते हैं

---

१ किण्हानीलाकाऊ तेऊलेसा य भवणवतरिया।
जोइस सोहम्मीसाणि तेऊलेसा मुणेयव्वा ॥

—बृहत्सग्रहणी पत्र ८१

भवनपति और व्यतर देवो के कृष्ण आदि चार लेश्यायें होती हैं किन्तु →

तब कुछ काल तक अपर्याप्त (करण-अपर्याप्त) अवस्था मे उनको तेजोलेश्या होती है।[1] क्योकि यह सिद्धान्त है —

जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ।

अर्थात् जिन लेश्यापरिणामो में जीव का मरण होता है, उन्हीं लेश्यापरिणामो से भवान्तर मे उत्पन्न होता है। जिससे बादर एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल और प्रत्येक वनस्पति जीवो के अपर्याप्त अवस्था में कुछ समय तक तेजोलेश्या पाये जाने से तेजोलेश्यामार्गणा मे पर्याप्त-अपर्याप्त सज्ञी के अतिरिक्त बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त रूप तीसरा भी जीवस्थान माना जाता है।

पद्म और शुक्ल लेश्या के परिणाम सज्ञी के सिवाय दूसरे जीवों मे न होने के कारण इन दो लेश्याओ मे अपर्याप्त और पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय यह दो जीवस्थान है।

'सजमे एक्क' अर्थात् सामायिक आदि सयममार्गणा के पाच भेदो तथा देशविरतमार्गणा कुल छह भेदो मे पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय रूप एक ही जीवस्थान होता है। इसका कारण यह है कि पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय के सिवाय अन्य प्रकार के जीवो मे सर्वविरति और देशविरति सयम धारण करने की योग्यता नही होती है।

अनाहारक मार्गणा मे आठ जीवस्थान होते है—'अट्ठमणहारे'। जिनके नाम इस प्रकार है—अपर्याप्त-पर्याप्त सज्ञी तथा अपर्याप्त

ज्योतिष और सौधर्म-ईशान देवलोक मे तेजोलेश्या ही होती है।

1 पुढवीआउ वणस्सइ गब्भे पज्जत्तसखजीवेसु।
सग्गच्चुयाणवासो सेसापडिसेहिया ठाणा॥

—बृहत्सग्रहणी पत्र ७७

पृथ्वी, जल, वनस्पति और सख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज पर्याप्तको में ही स्वर्ग-च्युत देव पैदा होते हैं, अन्य स्थानो में नहीं।

सूक्ष्म बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय।

सब प्रकार के अपर्याप्त जीव अनाहारक उस समय होते है, जिस समय वे विग्रहगति मे एक, दो या तीन समय तक आहार ग्रहण नही करते है।[1] लेकिन पर्याप्त सज्ञी को अनाहारक इस अपेक्षा से माना जाता है कि केवली भगवान केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाचवें समय मे कार्मण काययोगी होने के कारण किसी प्रकार के आहार को ग्रहण नही करते है।[2]

'सण्णी सम्ममि य दोन्नि' अर्थात् सज्ञीमार्गणा तथा क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन तीन सम्यक्त्वमार्गणाओ मे पर्याप्त-अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय यह दो जीवस्थान होते है। क्योकि अन्य सब जीवस्थान असज्ञी होने से सज्ञीमार्गणा मे सज्ञीद्विक जीवस्थानो के सिवाय अन्य कोई जीवस्थान सभव नही है। अत यही दो जीवस्थान होते है तथा क्षायिक आदि सम्यक्त्वत्रिक मे यही दो जीवस्थान मानने का कारण यह है कि जो जीव आयु बाधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, वह उस बद्ध आयु के अनुसार चारो गतियो मे से किसी भी गति मे जन्म ले सकता है। इसी अपेक्षा से क्षायिक सम्यक्त्व अपर्याप्त-अवस्था मे माना जाता है। इसी पकार

---

१ उत्पत्तिस्थान की वक्रता से जन्मान्तर ग्रहण करने के लिए जाते हुए किसी छद्मस्थ जीव को विग्रहगति मे एक, दो या तीन विग्रह (घुमाव) करना पडते है। इसी अपेक्षा से एक, दो या तीन समय तक अनाहारक दशा सभव है—

एक द्वौ त्रीन्वाऽनाहारक। — तत्त्वार्थसूत्र २ | ३०

२ कार्मण शरीर योगी तृतीयके पचमे चतुर्थे च।
समयत्रये य तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात्॥

—प्रशमरति २७७

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को अपर्याप्त-अवस्था मे मानने का कारण यह है कि भावी तीर्थंकर आदि जब देवगति मे च्युत होकर मनुष्य-जन्म ग्रहण करते है तब वे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सहित होते है। इस प्रकार क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे पर्याप्त-अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय रूप दो जीवस्थान होते है तथा औपशमिक सम्यक्त्व के लिए यह समझना चाहिये कि आयु पूर्ण हो जाने पर जब कोई औपशमिक सम्यग्दृष्टि ग्यारहवे गुणस्थान मे मरण करके अनुत्तर विमान मे पैदा होता है तब अपर्याप्त-अवस्था मे औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्वमार्गणा मे भी दो जीवस्थानो का निर्देश करने पर जिज्ञासु पूछता है—

प्रश्न—क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सहित भवान्तर मे जाना सभव होने से इन दोनो सम्यक्त्वो मे तो सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त यह जीवस्थान माना जा सकता है, परन्तु औपशमिक सम्यक्त्व मे सज्ञी अपर्याप्त जीवस्थान कैसे घटित होगा ? क्योकि अपर्याप्त-अवस्था मे तद्योग्य अध्यवसाय का अभाव होने से कोई भी नया सम्यक्त्व उत्पन्न नही होता है। कदाचित् यह कहा जाये कि अपर्याप्त-अवस्था मे भले ही नया सम्यक्त्व उत्पन्न न हो, परन्तु क्षायिक, क्षायोपशमिक की तरह परभव मे लाया हुआ अपर्याप्त-अवस्था मे हो तो उसका निषेध कौन कर सकता है ? परन्तु यह कथन भी अयोग्य है। क्योकि जो मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वगुणस्थान मे तीन करण करके औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह जब तक हो तब तक कोई जीव मरण नही करता है और आयु को भी नही बाधता है। जैसा कि आगमो मे कहा है—

> अणबधोदयमाउगबध काल च सासणो कुणइ।
> उवसमसम्मदिट्ठी चउण्हमेकपि न कुणइ॥

अर्थात् सासादनसम्यग्दृष्टि अनन्तानुबधी का बध, अनन्तानुबधी का उदय, आयु का बध और मरण इन चार कार्यों को करता है,

किन्तु औपशमिक सम्यग्दृष्टि इन चारो मे से एक भी कार्य नही करता है।

कदाचित् यह कहा जाये कि उपशमश्रेणि का उपशमसम्यक्त्व अपर्याप्त-अवस्था मे होता है, तो यह कथन भी योग्य नही है। क्योकि उपशमश्रेणि पर आरूढ जीव यदि वहाँ मरण कर अनुत्तर विमानो मे उत्पन्न होता है तो उसको देवायु के पहले समय मे सम्यक्त्वमोहनीय के पुद्गलो का उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व नही होता है। जैसा कि शतकचूर्णि मे सकेत किया है—

जो उवसमसम्मदिट्ठी उवसमसेढीए काल करेइ सो पढम समए चेव सम्मत्तपुंज उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मदिट्ठी अपज्जत्तगो लब्भइ त्ति।

अर्थात् जो उपशमसम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणि मे मरण को प्राप्त होता है, वह प्रथम समय मे ही सम्यक्त्वमोहनीय पुज को उदयावलिका मे लाकर वेदन करता है, जिसमे उपशम सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त नही होता है। यानि अपर्याप्त-अवस्था मे औपशमिक सम्यक्त्व नही पाया जाता है।

इस प्रकार उपशम सम्यक्त्वमार्गणा मे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त यही एक जीवस्थान सभव है, परन्तु अपर्याप्त सज्ञी जीवस्थान घटित नही होता है।

उत्तर—उपर्युक्त कथन सगत नही है। क्योकि सप्ततिका की चूर्णि मे जहाँ गुणस्थानो मे नामकर्म के बध और उदय स्थानो का विचार किया गया है, वहाँ चौथे अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान के उदयस्थानो के विचार के प्रसग मे पच्चीस और सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान देव और नारको की अपेक्षा बताये है। उनमे नारको को क्षायिक और वेदक—क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बताया है, किन्तु देवो

को तीनो प्रकार के सम्यक्त्व वाला कहा है। तत्सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है—

'पणवीस सत्तावीसोदया देव नेरइए पडुच्च। नेरइगो खइगवेयग-सम्मदिट्ठी, देवो तिविह सम्मदिट्ठी वि।'

अर्थात्—पच्चीस और सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान देव और नारको की अपेक्षा होते है, उनमें नारक क्षायिक और वेदक सम्यग्दृष्टि और देव तीनो (क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक) सम्यक्त्व वाले होते है। इन दोनो उदयस्थानो मे से पच्चीस प्रकृतिक-उदयस्थान शरीरपर्याप्ति के निर्माण समय मे और सत्ताईस-प्रकृतिक उदयस्थान शरीरपर्याप्ति मे पर्याप्त और शेष पर्याप्तियो से अपर्याप्त को होता है। इस प्रकार यह दोनो उदयस्थान अपर्याप्त अवस्था में होने से यहा भी अपर्याप्त अवस्था मे औपशमिक सम्यक्त्व को ग्रहण किया है। तत्त्व तो केवलज्ञानीगम्य है।[1]

---

१ दिगम्बर साहित्य में उपशमश्रेणिभावी—उपशम सम्यक्त्व जीवो को अपर्याप्त अवस्था मे होता है इसी मत को माना है—

विदियुवसमसम्मत्त सेढी दो दिण्णि अविरदादीसु।
सग सग लेस्सायरिदे देव अपज्जत्तगेव हवे॥

—गो० जीवकाड, गाथा ७२९

उपशमश्रेणि से उतरकर अविरत आदि गुणस्थानो को प्राप्त करने वालो मे से जो जीव अपनी-अपनी लेश्या के अनुसार मरण करके देव पर्याय को प्राप्त करता है, उसी को अपर्याप्त अवस्था में द्वितीयोपशम सम्यक्त्व (उपशमश्रेणिभावी होता) है।

ग्रथकार आचार्य ने इसी अपेक्षा मे मभवत सम्यक्त्व में सज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त यह दो जीवस्थान माने हो। लेकिन प्रथमोपशम सम्यक्त्व की अपेक्षा जीवस्थानो का विचार किया जाये तो एक सज्ञीपचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान होगा। क्योकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय आयुबध, मरण आदि नही होता है। जैसाकि ऊपर कहा है—'अणबधोदयमाउग' इत्यादि।

'सेसायाइ असनिम्मि'—अर्थात् पूर्वोक्त पर्याप्त और अपर्याप्त सज्ञी के सिवाय शेष रहे बारह जीवस्थान असज्ञी मार्गणा में पाये जाते हैं। क्योकि सज्ञित्व और असज्ञित्व का भेद पचेन्द्रिय जीवो में ही पाया जाता है, लेकिन शेष बारह जीवस्थान असज्ञी जीवो के ही होते हैं। इसलिए असज्ञी मार्गणा मे बारह जीवस्थान समझना चाहिए।

अब पूर्वोक्त से शेप रही ज्ञानादि मार्गणाओ मे जितने जीवस्थान संभव है, उनका प्रतिपादन करते है—

दुसु नाणदसणाइ सव्वे अन्नाणिणो य विन्नेया।
सन्निम्मि अयोगि अवेइ एवमाइ मुणेयव्व ॥२६॥

शब्दार्थ—**दुसु**—दोनो मे, **नाणदसणाइं**—ज्ञान और दर्शन, **सव्वे**—सभी, **अन्नाणिणो**—अज्ञानियो को, **य**—और, **विन्नेया**—जानना चाहिए, **सन्निम्मि**— सज्ञी मे, **अयोगि**—अयोगि, **अवेइ**—अवेदी, **एवमाइ**—इत्यादि, **मुणेयव्व**—समझना चाहिए।

गाथार्थ—ज्ञान और दर्शन दो जीवस्थानो मे और अज्ञान सभी जीवस्थानो मे जानना चाहिए। अयोगि, अवेदी इत्यादि भाव सज्ञी मे समझना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा मे ज्ञान और दर्शन मार्गणा के भेदो मे जीवस्थानो का विचार करने के प्रसग मे एक सामान्य नियम का निर्देश करते हुए सज्ञी जीवस्थान की विशेपता बतलाई है।

मतिज्ञान आदि पाँच भेदो के साथ मति-अज्ञान आदि तीन को मिलाने से ज्ञानमार्गणा के आठ भेद है। अर्थात् ज्ञान मार्गणा के दो वर्ग है। प्रथम वर्ग मतिज्ञानादि पाच सम्यक्ज्ञानो का और दूसरा वर्ग मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञानो—मिथ्याज्ञानो का है। यही बात चक्षुदर्शन आदि दर्शनो के लिए भी समझना चाहिए। यदि वे मिथ्यात्व-

सहकृत है तो मिथ्यादर्शन कहलायेंगे और सम्यक्त्व सहित है तो सम्यग्दर्शन। इन दोनो मे जीवस्थानो के विचार का प्रमुख सूत्र यह है कि 'दुसु नाणदसणाइ'—ज्ञान—सम्यग्ज्ञान और दर्शन—सम्यग्दर्शन दो जीवभेदो—सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त मे सभव है, अन्य जीवभेदो मे सभव नही है, लेकिन 'सव्वे अन्नाणिणो' अर्थात् अज्ञान मे सभी चौदह जीवस्थान हो सकते हैं।

अव सज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थान की विशेपता वतलाते है कि अयोगित्व, अवेदित्व और 'आइ'— आदि शब्द मे इनके ही समकक्ष अलेश्यत्व, अकपायत्व, अनिन्द्रियत्व आदि भाव मात्र 'सन्निम्मि' सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान मे ही सभव है, शेप मे नही। परन्तु यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि ये सव भाव मनुष्यगति मे ही प्राप्त हो सकेंगे, अन्यत्र सम्भव नही है।

सज्ञी पर्याप्त जीवस्थान मे अयोगित्व आदि भावो की प्राप्ति का सकेत करने पर जिज्ञासु पूछता है कि—

प्रश्न—सूक्ष्म, वादर योग के विना अयोगित्व मे सज्ञीपना कैसे घट सकता है। अर्थात् जव अयोगि दशा मे योग ही नही है तो फिर सज्ञी कहे जाने का क्या आधार है ?

उत्तर—उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि सयोगिकेवलि की तरह द्रव्यमन का सम्वन्ध होने से अयोगि को भी सज्ञी व्यपदेश होता है।[1] जैसा कि सप्ततिकाचूर्णि मे कहा है—

मणकरण केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो मन्नति।

केवली को भी मनकरण— द्रव्यमन होने से सज्ञी कहा जाता है। अर्थात् द्रव्यमन की अपेक्षा रखकर अयोगिदशा मे सज्ञित्व मानने मे किसी प्रकार का विरोध नही है।[2]

---

१ केवली भगवान 'नो सज्ञी नो असज्ञी' कहलाते है। जिसका स्पष्टीकरण गाथा ३२ मे किया गया है।

२ दिगम्बर साहित्य मे भी अयोगिकेवली अवस्था मे द्रव्यमन के सम्वन्ध मे

→

'सेसायाइ असनिम्मि'—अर्थात् पूर्वोक्त पर्याप्त और अपर्याप्त सज्ञी के सिवाय शेष रहे बारह जीवस्थान असज्ञी मार्गणा मे पाये जाते हैं। क्योकि सज्ञित्व और असज्ञित्व का भेद पचेन्द्रिय जीवो मे ही पाया जाता है, लेकिन शेष बारह जीवस्थान असज्ञी जीवो के ही होते है। इसलिए असज्ञी मार्गणा मे बारह जीवस्थान समझना चाहिए।

अब पूर्वोक्त से शेप रही ज्ञानादि मार्गणाओ मे जितने जीवस्थान सभव है, उनका प्रतिपादन करते है—

दुसु नाणदसणाइ सव्वे अन्नाणिणो य विन्नेया।
सन्निम्मि अयोगि अवेइ एवमाइ मुणेयव्व ॥२६॥

शब्दार्थ—**दुसु**—दोनो मे, **नाणदसणाइ**—ज्ञान और दर्शन, **सव्वे**—सभी, **अन्नाणिणो**—अज्ञानियो को, **य**—और, **विन्नेया**—जानना चाहिए, **सन्निम्मि**— सज्ञी मे, **अयोगि**—अयोगि, **अवेइ**—अवेदी, **एवमाइ**—इत्यादि, **मुणेयव्व**—समझना चाहिए।

गाथार्थ—ज्ञान और दर्शन दो जीवस्थानो मे और अज्ञान सभी जीवस्थानो मे जानना चाहिए। अयोगि, अवेदी इत्यादि भाव सज्ञी मे समझना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा मे ज्ञान और दर्शन मार्गणा के भेदो मे जीवस्थानो का विचार करने के प्रसग मे एक सामान्य नियम का निर्देश करते हुए सज्ञी जीवस्थान की विशेपता वतलाई है।

मतिज्ञान आदि पाँच भेदो के साथ मति-अज्ञान आदि तीन को मिलाने से ज्ञानमार्गणा के आठ भेद ह। अर्थात् ज्ञान मार्गणा के दो वर्ग ह। प्रथम वर्ग मतिज्ञानादि पाच सम्यक्ज्ञानो का और दूसरा वर्ग मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञानो—मिथ्याज्ञानो का है। यही वात चक्षुदर्शन आदि दर्शनो के लिए भी समझना चाहिए। यदि वे मिथ्यात्व-

'सेसायाइ असन्निम्मि'—अर्थात् पूर्वोक्त पर्याप्त और अपर्याप्त सञ्ज्ञी के सिवाय शेष रहे बारह जीवस्थान असञ्ज्ञी मार्गणा में पाये जाते हैं। क्योकि सञ्ज्ञित्व और असञ्ज्ञित्व का भेद पचेन्द्रिय जीवो मे ही पाया जाता है, लेकिन शेप बारह जीवस्थान असञ्ज्ञी जीवो के ही होते हैं। इसलिए असञ्ज्ञी मार्गणा मे बारह जीवस्थान समझना चाहिए।

अब पूर्वोक्त से शेष रही ज्ञानादि मार्गणाओ मे जितने जीवस्थान संभव है, उनका प्रतिपादन करते है—

दुसु नाणदसणाइ सव्वे अन्नाणिणो य विन्नेया।
सन्निम्मि अयोगि अवेइ एवमाइ मुणेयव्व ॥२६॥

शब्दार्थ—**दुसु**—दोनो मे, **नाणदसणाइ**—ज्ञान और दर्शन, **सव्वे**—सभी, **अन्नाणिणो**—अज्ञानियो को, **य**—और, **विन्नेया**—जानना चाहिए, **सन्निम्मि**— सञ्ज्ञी मे, **अयोगि**—अयोगि, **अवेइ**—अवेदी, **एवमाइ**—इत्यादि, **मुणेयव्व**—समझना चाहिए।

गाथार्थ—ज्ञान और दर्शन दो जीवस्थानो मे और अज्ञान सभी जीवस्थानो मे जानना चाहिए। अयोगि, अवेदी इत्यादि भाव सञ्ज्ञी मे समझना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा मे ज्ञान और दर्शन मार्गणा के भेदो मे जीवस्थानो का विचार करने के प्रसग मे एक सामान्य नियम का निर्देश करते हुए सञ्ज्ञी जीवस्थान की विशेपता बतलाई है।

मतिज्ञान आदि पाँच भेदो के साथ मति-अज्ञान आदि तीन को मिलाने से ज्ञानमार्गणा के आठ भेद है। अर्थात् ज्ञान मार्गणा के दो वर्ग ह। प्रथम वर्ग मतिज्ञानादि पाच सम्यक्ज्ञानो का और दूसरा वर्ग मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञानो—मिथ्याज्ञानो का है। यही बात चक्षुदर्शन आदि दर्शनो के लिए भी समझना चाहिए। यदि वे मिथ्यात्व-

'सेसायाइ असनिम्मि'—अर्थात् पूर्वोक्त पर्याप्त और अपर्याप्त सज्ञी के सिवाय शेष रहे बारह जीवस्थान असज्ञी मार्गणा मे पाये जाते हैं। क्योकि सज्ञित्व और असज्ञित्व का भेद पचेन्द्रिय जीवो मे ही पाया जाता है, लेकिन शेष बारह जीवस्थान असज्ञी जीवो के ही होते हैं। इसलिए असज्ञी मार्गणा मे बारह जीवस्थान समझना चाहिए।

अब पूर्वोक्त से शेप रही ज्ञानादि मार्गणाओ मे जितने जीवस्थान सभव है, उनका प्रतिपादन करते हैं—

दुसु नाणदसणाइ सव्वे अन्नाणिणो य विन्नेया।
सन्निम्मि अयोगि अवेइ एवमाइ मुणेयव्व ॥२६॥

शब्दार्थ—**दुसु**—दोनो मे, **नाणदसणाइ**—ज्ञान और दर्शन, **सव्वे**—सभी, **अन्नाणिणो**—अज्ञानियो को, **य**—और, **विन्नेया**—जानना चाहिए, **सन्निम्मि**— सज्ञी मे, **अयोगि**—अयोगि, **अवेइ**—अवेदी, **एवमाइ**—इत्यादि, **मुणेयव्व**—समझना चाहिए।

गाथार्थ—ज्ञान और दर्शन दो जीवस्थानो मे और अज्ञान सभी जीवस्थानो मे जानना चाहिए। अयोगि, अवेदी इत्यादि भाव सज्ञी मे समझना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा मे ज्ञान और दर्शन मार्गणा के भेदो मे जीवस्थानो का विचार करने के प्रसग मे एक सामान्य नियम का निर्देश करते हुए सज्ञी जीवस्थान की विशेपता वतलाई है।

मतिज्ञान आदि पाँच भेदो के साथ मति-अज्ञान आदि तीन को मिलाने मे ज्ञानमार्गणा के आठ भेद हैं। अर्थात् ज्ञान मार्गणा के दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग मतिज्ञानादि पाच सम्यक्ज्ञानो का और दूसरा वर्ग मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञानो—मिथ्याज्ञानो का है। यही वात चक्षुदर्शन आदि दर्शनो के लिए भी समझना चाहिए। यदि वे मिथ्यात्व-

अब पूर्व गाथा के विवेचन का विस्तार से विचार करते है—

दोमइसुयओहिदुगे एक्कं मणनाण केवल विभंगे ।
छ तिग व चक्खुदंसण चउदस ठाणाणि सेस तिगे ॥२७॥

शब्दार्थ—दो—दो, मइसुयओहिदुगे—मति, श्रुत और अवधिद्विक मे, एक्कं—एक, मणनाणकेवलविभंगे—मनपर्यायज्ञान, केवलज्ञान और विभंगज्ञान मे, छ—छह, तिग—तीन, व—अथवा, चक्खुदंसण—चक्षुदर्शन, चउदस—चौदह, ठाणाणि—जीवस्थान, सेस तिगे—शेष तीन मे ।

गाथार्थ—मति, श्रुत और अवधिद्विक मे दो जीवस्थान होते है। मनपर्यायज्ञान, केवलज्ञान और विभंगज्ञान मे एक तथा चक्षुदर्शन मे तीन अथवा छह और शेष रहे अज्ञानत्रिक मे सभी चौदह जीवस्थान होते है।

विशेषार्थ—पूर्वगाथा मे किये गये सामान्य निर्देश के अनुसार अब ज्ञान और दर्शन मार्गणा के अवान्तर आठ और चार भेदो मे पृथक-पृथक जीवस्थानो को बतलाते है।

'दोमइसुयओहिदुगे'—अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और अवधिदर्शन इन चार मार्गणाओ मे पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी

संज्ञित्व माना है—

मणसहियाण वयणं दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि ।
उत्तो मणो वयरिंणिदिय णाणेण हीणम्हि ॥

—गोम्मटसार जीवकांड २२७

छद्मस्थ मनसहित जीवो का वचन प्रयोग मनपूर्वक होता है। इसलिए इन्द्रियज्ञान से रहित केवली भगवान में भी उपचार से मन माना जाता है। इसलिए केवली के अयोगि होने पर भी उनको संज्ञी कहते हैं।

पचेन्द्रिय यह दो जीवस्थान होते हैं। इसका कारण यह है कि ये मतिज्ञान आदि सम्यक्त्वसापेक्ष है और सम्यक्त्व सज्ञी मे होता है, असज्ञी मे नही। जिससे मति-श्रुतज्ञान आदि का असज्ञी मे होना असम्भव है तथा कोई-कोई जीव जब मति आदि तीनो ज्ञानो सहित जन्म ग्रहण करते है, उस समय उन जीवो के अपर्याप्त अवस्था मे भी मति, श्रुत, अवधिद्विक होते हैं। इसीलिए मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिद्विक–अवधिज्ञान,अवधिदर्शन इन चार मार्गणाओ मे अपर्याप्त-पर्याप्त सज्ञीपचेन्द्रिय यह दो जीवस्थान माने जाते हैं।

एक मणनाणकेवलविभगे' अर्थात् मनपर्यायज्ञान, केवलद्विक–केवलज्ञान, केवलदर्शन और विभगज्ञान मार्गणाओ मे पर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय रूप एक जीवस्थान होता है। यहाँ विभगज्ञान मे जो पर्याप्त सज्ञी रूप एक जीवस्थान बताया है, वह तिर्यंच, मनुष्य और असज्ञी नारक की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योकि सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यो को अपर्याप्त अवस्था मे विभगज्ञान उत्पन्न नही होता है तथा असज्ञी पचेन्द्रिय मे से जो रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक मे नारक रूप मे उत्पन्न होते हैं, उनका असज्ञी नारक ऐसा नामकरण किया जाता है, उनको भी अपर्याप्त अवस्था मे विभगज्ञान उत्पन्न नही होता, किन्तु सभी पर्याप्तियो से पर्याप्त होने के बाद उत्पन्न होता है। इसी अपेक्षा से विभगज्ञान मे सज्ञी पर्याप्त रूप एक जीवस्थान बताया है। लेकिन सामान्यापेक्षा विचार किया जाये तो विभगज्ञान मार्गणा मे सज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त ये दोनो जीवस्थान हो सकते हैं। क्योकि सज्ञी तिर्यंच, मनुष्यो मे से उत्पन्न होते देव नारको को अपर्याप्त अवस्था मे भी विभगज्ञान उत्पन्न होता है।[1]

चक्षुदर्शन मार्गणा मे अपर्याप्त पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय इस प्रकार छह अथवा पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी

1 दिगम्बर साहित्य मे विभगज्ञान मे सज्ञीपचेन्द्रिय पर्याप्त रूप एक जीवस्थान माना है।

पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय ये तीन जीवस्थान पाये जाते है—'छ तिग व चक्खुदसण।' इन दोनो मतो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कतिपय आचार्यों का मत है कि अपर्याप्त अवस्था मे भी चक्षु-दर्शन हो सकता है। किन्तु इसके लिए इन्द्रिय पर्याप्ति का पूर्ण बन जाना आवश्यक है। क्योकि इन्द्रिय पर्याप्ति न बन जाये तब आँख के पूर्ण न बनने से चक्षुदर्शन हो ही नही सकता है।

इस कथन का साराश यह है कि अपर्याप्त अवस्था मे इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हो जाने के बाद यदि शेष पर्याप्तियो से अपर्याप्त भी हो तो ऐसे अपर्याप्त को चक्षुदर्शनोपयोग हो सकता है। अत. उनके मतानुसार तो पर्याप्त-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय इस प्रकार चक्षुदर्शन मार्गणा मे छह जीवस्थान घटित होगे।

लेकिन जो इस मत को स्वीकार नही करते अर्थात् पर्याप्त अवस्था मे ही चक्षुदर्शनोपयोग मानते है, उनके मतानुसार पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय ये तीन जीवस्थान चक्षुदर्शन मार्गणा मे माने जायेगे। इस मत को मानने वालो का दृष्टिकोण यह है कि चक्षुदर्शन आख वालो के ही होता है और आखें चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय इन तीन प्रकार के जीवो के पर्याप्त अवस्था मे ही होती है। इसके सिवाय अन्य प्रकार के जीवो में चक्षु-दर्शन का भी अभाव है। अतएव चक्षुदर्शन मे तीन जीवस्थान मानना चाहिये।

इन दोनो मतो के मतव्यो का दिग्दर्शन कराने के लिये ग्रथकार आचार्य ने गाथा मे 'व' शब्द दिया है।[1]

---

१ चक्षुदर्शन मे तीन और छह जीवस्थान मानने का कारण इन्द्रिय पर्याप्ति की दो व्याख्यायें हैं—

'चउदस ठाणाणि सेस तिगे'--अर्थात् पूर्वोक्त से शेष रहे ज्ञान और दर्शन मार्गणा के तीन भेदो—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन—मे चौदह जीवस्थान होते है। मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान तो सभी प्रकार के जीवो मे सभव होने से माने जा सकते है। लेकिन अचक्षुदर्शन मे भी सब जीवस्थान मानने पर जिज्ञासा होती है कि अचक्षुदर्शन मे जो सात अपर्याप्त जीवस्थान है, वे इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात और स्वयोग्य पर्याप्तियाँ अभी पूर्ण न हुई हो, वैसी अपर्याप्त अवस्था की अपेक्षा या इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण

(अ) इन्द्रिय पर्याप्ति जीव की वह शक्ति है, जिसके द्वारा धातुरूप मे परिणत आहार पुद्गलो मे से योग्य पुद्गल इन्द्रियरूप से परिणत किये जाते है। यह व्याख्या प्रज्ञापना वृत्ति में है। जिसके अनुसार स्वयोग्य सपूर्ण पर्याप्तियाँ पूर्ण होने के बाद ही इन्द्रियजन्य उपयोग प्रवृत्त होता है। अपर्याप्त अवस्था में चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षु होने पर भी उसका उपयोग नही होता है। अत चक्षुदर्शन में तीन जीवस्थान होते है।

(आ) इन्द्रिय पर्याप्ति जीव की वह शक्ति है, जिसके द्वारा योग्य आहार-पुद्गलो को इन्द्रियरूप में परिणत करके इन्द्रियजन्य बोध का सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है। यह व्याख्या बृहत्सग्रहणी तथा भगवती वृत्ति की है। जिसके अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात इन्द्रियजन्य उपयोग प्रवृत्त होता है। यानी इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण करली हो किन्तु स्वयोग्य अन्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न भी की हो ऐसे जीव को चक्षुदर्शन हो सकता है। इस अपेक्षा से चक्षुदर्शन में छह जीवस्थान माने जाते हैं।

दिगम्बर आचार्यों ने चक्षुदर्शन में छह जीवस्थान माने हैं—

'चक्षुदर्शने चतुरिन्द्रियाऽसज्ञि पर्याप्ताऽपर्याप्ता षढ। अपर्याप्तकालेऽपि चक्षुर्दर्शनस्य क्षयोपशमसद्भावात्, शक्त्यपेक्षया वा षड्धा जीवसमासा भवन्ति।

—पचसग्रह ४/१७ टीका

होने के पहले भी अचक्षुदर्शन होता है, यह मान कर। अर्थात् इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद के अपर्याप्तो अथवा इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले के अपर्याप्तो को ग्रहण किया किया है।

यदि प्रथम पक्ष माना जाये कि इन्द्रिय पर्याप्ति के पूर्ण होने के बाद स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न हुई हो तो उस स्थिति मे सभी जीवस्थान अचक्षुदर्शन मे माने जा सकते है। लेकिन दूसरा पक्ष माना जाये कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुदर्शन होता है तो इस पक्ष मे यह प्रश्न होता है कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले द्रव्येन्द्रिय नही होने से उस अवस्था मे अचक्षुदर्शन कैसे माना जा सकता है ?

इसका समाधान यह है—अचक्षुदर्शन कोई एक इन्द्रियजन्य दर्शन नही है, वह नेत्र इन्द्रिय के सिवाय अन्य किसी भी इन्द्रियजन्य दर्शन है। जिससे वह शक्ति रूप अथवा द्रव्य-इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय दोनो रूपो मे अथवा भावेन्द्रिय रूप मे होता है। इसी से अचक्षुदर्शन को इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले और पीछे दोनो अवस्थाओ मे माना जा सकता है। जिससे अचक्षुदर्शन मे सभी जीवस्थान माने जाने मे किसी प्रकार का विवाद नही है।

सासादनसम्यक्त्व मार्गणा मे अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञीपचेन्द्रिय, सज्ञीपचेन्द्रिय ये छह और सातवाँ सज्ञीपचेन्द्रिय पर्याप्त कुल मिलाकर सात जीवस्थान होते है। इनमे छह अपर्याप्त और एक पर्याप्त जीवस्थान है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय को छोडकर अन्य छह प्रकार के जीवस्थान इसलिए माने जाते है कि जब कोई औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव उस सम्यक्त्व को छोडता हुआ बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञीपचेन्द्रिय मे जन्म लेता है, तब उसके अपर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है। किन्तु कोई भी जीव औपशमिक सम्यक्त्व का वमन करते हुए सूक्ष्म एकेन्द्रिय मे पैदा नही होता है।

तथा सज्ञी पंचेन्द्रिय के सिवाय कोई भी जीव पर्याप्त अवस्था मे सासादन सम्यक्त्व वाला नही होता है। क्योकि औपशमिक सम्यक्त्व पाने वाले जीव सज्ञी ही होते है दूसरे नही। इसलिए सासादन सम्यक्त्व मार्गणा मे सात जीवस्थान माने जाते है।[1]

मिश्र सम्यक्त्वमार्गणा मे एक सज्ञी पचेन्द्रियपर्याप्त जीवस्थान होता है। क्योकि सज्ञीपचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के सिवाय अन्य जीवो मे तथाविध परिणामो की योग्यता नही होने से मिश्र-दृष्टि सम्यग्‌मिथ्यात्व—नही होती है।

इस प्रकार से मार्गणास्थानो के बासठ उत्तर भेदो मे जीवस्थानो कथन समझना चाहिए।[2] अब वर्ण्य विषयो मे से शेष रहे मार्गणा स्थानो मे गुणस्थानो को बतलाते है।

मार्गणास्थानो मे गुणस्थान—

सुरनारएसु चत्तारि पच तिरिएसु चोद्दस मणूसे।
इगिविगलेसु जुयल सव्वाणि पंणिदिसु हवति ॥२८॥

---

१ यहाँ जो अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि को सासादनसम्यक्त्व का अधिकारी कहा है, वे करण-अपर्याप्त समझना चाहिए, लब्धि-अपर्याप्त नही। क्योकि लब्धि-अपर्याप्त जीव तो मिथ्यात्वी ही होते है।

दिगम्बर आचार्यो ने सासादनसम्यक्त्व मे सात के सिवाय आठ व दो जीवस्थान भी माने है।

सासणसम्मे सत्त अपज्जत्ता होति सण्णि-पज्जत्ता।

पचसग्रह ४/१६ की टीका

२ दिगम्बर कर्मग्रथो मे प्राप्त मार्गणास्थानो मे जीवस्थानो का विचार परिशिष्ट मे देखिये।

शब्दार्थ—सुरनारएसु—देव और नारको मे, चत्तारि—चार, पच—पाँच, तिरिएसु—तिर्यंचो मे, चोद्दस—चौदह, मणूसे—मनुष्यो मे, इगिविगलेसु—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियो मे, जुयल—युगल (दो), सव्वाणि—सभी, पणिदिसु—पचेन्द्रियो मे, हवंति—होते है।

गाथार्थ—देव और नारको मे चार, तिर्यंचो मे पाँच, मनुष्यो मे चौदह गुणस्थान होते है तथा एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियो मे दो और पचेन्द्रियो मे सभी (चौदह) गुणस्थान जानना चाहिए।

विशेषार्थ—गाथा मे गति मार्गणा के चार और इन्द्रिय मार्गणा के पाँच भेदो मे प्राप्त गुणस्थानो को बतलाया है।

देव, नारक, तिर्यच और मनुष्य यह गति मार्गणा के चार भेद है। उनमे से 'सुरनारएसु चत्तारि'—देव और नारको मे आदि के मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अविरतसम्यग्दृष्टि ये चार गुणस्थान होते है। क्योकि अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सयम धारण करने की शक्ति की अभिव्यक्ति नही होने के कारण देव और नारक स्वभाव मे ही विरति रहित होते है। इसलिए इन दोनो गतियो मे प्रथम चार गुणस्थान माने जाते हैं।

'पच तिरिएसु'—तिर्यंच गति मे आदि के पाँच गुणस्थान—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत होते हैं। क्योकि जातिस्वभाव से तिर्यंचगति मे सर्वविरति तो सभव नही, किन्तु देशविरति सयम का पालन किया जा सकता है और आगे के छठे आदि गुणस्थान सर्वविरति के ही होते है और सर्वविरति का धारण-पालन सिर्फ मनुष्य गति मे हो सकता है। इसीलिए तिर्यंचगति मे आदि के पाच गुणस्थान माने जाते है।

तिर्यचगति मे पाँच गुणस्थान मानने के सम्बन्ध मे इतना विशेष समझना चाहिए कि गर्भज तिर्यंचो मे सम्यक्त्व और देशविरति

योग्य परिणाम हो सकते है। युगलिक तिर्यंचो के आदि के चार ही गुणस्थान होते है और औपशमिक आदि तीन सम्यक्त्वो मे से किसी भी प्रकार का सम्यक्त्व सभव है और संख्यात वर्ष की आयु वाले सज्ञी तिर्यंच मे क्षायिक के सिवाय शेष दो सम्यक्त्व और देशविरति तक के पाँच गुणस्थान सभव है।

मनुष्यगति मे सभी प्रकार के परिणाम सभव होने से सब गुणस्थान पाये जाते है—'चोद्दस मणूसे'।

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन चार इन्द्रिय मार्गणा के भेदो मे युगल—मिथ्यात्व, सासादन यह दो गुणस्थान पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि अज्ञान के कारण तत्वश्रद्धाहीन होने मे मिथ्यात्वगुणस्थान तो सामान्यत इन सभी जीवो मे पाया जाता है और सासादनगुणस्थान इनकी अपर्याप्त अवस्था मे होता है। क्योकि एकेन्द्रिय आदि की आयु का वध हो जाने के वाद जव किसी को औपशमिक सम्यक्त्व होता है तव उसका त्याग करता हुआ सासादनसम्यक्त्व सहित एकेन्द्रिय आदि मे जन्म लेता है तो अपर्याप्त अवस्था मे कुछ काल के लिए दूसरा सासादनगुणस्थान भी पाया जाता है।[1]

पचेन्द्रिय मार्गणा मे सभी चौदह गुणस्थान सभव है। क्योकि पचेन्द्रियो मे मनुष्यो का समावेश होने से, उनमे सभी भाव पाये जाते हैं—'सव्वाणि पणिदिसु हवंति'।

इस प्रकार गति मार्गणा के चार और इन्द्रियमार्गणा के पाच, कुल नौ भेदो मे गुणास्थान वतलाने के वाद अब काय आदि मार्गणाओं मे गुणस्थानो का निर्देश करते है—

---

१ पर्याप्त नामकर्म के उदय वाले लब्धिपर्याप्त करण-अपर्याप्तको को करण अपर्याप्त अवस्था में सामादनगुणस्थान सभव है। लब्धि-अपर्याप्तको को मात्र मिथ्यात्वगुणस्थान होता है।

सव्वेसु वि मिच्छो वाउतेउसुहुमतिग पमोत्तूण ।
सासायणो उ सम्मो सन्निदुगे सेस सन्निम्मि ॥२८॥

शब्दार्थ—सव्वेसुवि—सभी जीवो मे, मिच्छो—मिथ्यात्व, वाउतेउ सुहुममिगं—वायु, तेज और सूक्ष्मत्रिक को, पमोत्तूण—छोडकर, सासायणो—सासादन, उ—और, सम्मो—सम्यक्त्व, (अविरतिसम्यग्दृष्टि) सन्निदुगे—सज्ञीद्विक मे, सेस—शेष, सन्निम्मि—सज्ञी मे ।

गाथार्थ—मिथ्यात्वगुणस्थान तो सभी जीवो मे होता है । सासादन गुणस्थान वायुकाय, तेजस्काय और सूक्ष्मत्रिक को छोड-कर शेष सभी जीवो में तथा अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान सज्ञीद्विक मे और शेष गुणस्थान सज्ञी जीवो मे होते है ।

विशेषार्थ—कायमार्गणा के छह भेदो मे गुणस्थान बतलाने के प्रारम्भ मे एक सामान्य सूत्र कहा है—

'सव्वेसुवि मिच्छो'—अर्थात् पृथ्वीकाय आदि त्रसपर्यन्त सभी जीवो मे सामान्यतया मिथ्यादृष्टिगुणस्थान होता है ।

अब दूसरे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के तेरह गुणस्थानो का निर्देश करते है कि—वायुकायिक, तेजस्कायिक और सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त नामकर्म के उदयवाले जीवो को छोडकर शेप लब्धि—पर्याप्त और करण—अपर्याप्त जीवो एव सज्ञीपर्याप्त जीवो में सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पाया जाता है । क्योकि लब्धि-अप-र्याप्त सूक्ष्म, साधारण नामकर्म के उदयवाले एकेन्द्रिय आदि में कोई जीव सासादन भावसहित आकर जन्म ग्रहण नही करता है ।

'सम्मो सन्निदुगे'—सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त इन दोनो प्रकार के जीवो मे अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थान होता है और इनमे शेप रहे गुणस्थान अर्थात् मिश्रदृष्टि और देशविरति से लेकर अयोगिकेवलि पर्यन्त गुणस्थान सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के होते हैं ।

अतएव प्रत्येक मार्गणा मे यथायोग्य गुणस्थानो की योजना स्वबुद्धि से कर लेना चाहिये। तथा—

जा बायरो ता वेएसु तिसु वि तह तिसु य सपराएसु।
लोभमि जाव सुहुमो छल्लेसा जाव सम्मोत्ति ॥३०॥

शब्दार्थ—जा—जब तक, बायरो—बादर, ता—तब तक, वेएसु—वेदो में, तिसु—तीन, वि—भी, तह—तथा, तिसु—तीनो मे, य—और, सपराएसु—कषायो में, लोभमि—लोभ में, जाव—तक, सुहुमो—सूक्ष्मसपराय, छल्लेसा—छह लेश्या, जाव—तक, सम्मोत्ति—अविरत सम्यग्दृष्टि।

गाथार्थ—जब तक बादर कषाये है तब तक के गुणस्थान तीन वेद और तीन कषायो मे होते है। अर्थात् तीन वेद और तीन कषायो में बादरसपराय तक के गुणस्थान होते है। लोभ मे सूक्ष्म सपराय तक के और छह लेश्याओ में अविरतसम्यग्दृष्टि तक के गुणस्थान पाये जाते है।

विशेषार्थ—गाथा में वेद, कषाय और लेश्या मार्गणा के क्रमश. तीन, चार और छह भेदो मे गुणस्थानो का निर्देश किया है।

वेदमार्गणा के पुरुष, स्त्री और नपुसक तथा कषायमार्गणा के क्रोध, मान और माया इन तीन-तीन भेदो मे जब तक बादर कषाये (तीव्र शक्ति वाली कषाये) रहती है, वहाँ तक के गुणस्थान समझ लेना चाहिए। बादर कषायो का उदय पहले मिथ्यात्व से लेकर अनिवृत्तिबादरसपराय नामक नौवें गुणस्थान तक रहता है। अत. पहले से लेकर नौवे तक के नौ गुणस्थान वेदत्रिक और कषायत्रिक मे समझना चाहिए।[1]

---

१ वेद के तीन भेदो मे नौ गुणस्थान द्रव्यवेद की अपेक्षा नही किन्तु भाववेद की अपेक्षा समझना चाहिये। क्योकि वेद देशघाती है और वह सर्वघाती कषायो के क्षयोपशम से प्राप्त गुण का घात नही करता है। परन्तु सर्व-

उदय की अपेक्षा इनमे गुणस्थानो के विचार का कारण यह है कि नौवे गुणस्थान के अतिम समय मे तीन वेद और क्रोधादि तीन सज्वलन कषाय या तो क्षीण हो जाती है या उपशात, इस कारण आगे के गुणस्थानो मे इनका उदय नही रहता है। परन्तु सत्ता की अपेक्षा इन छहो मार्गणाओ मे गुणस्थानो का विचार किया जाये तो ग्यारहवें उपशातमोहगुणस्थान तक इनकी सत्ता पाये जाने से ग्यारह गुणस्थान होगे।

इसी प्रकार 'लोभमि जाव सुहुमो'—लोभ (सज्वलन लोभ) का उदय भी दसवे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान तक रहता है। अतएव उदय की अपेक्षा इसमे दस गुणस्थान होगे और सत्ता तो ग्यारहवे गुणस्थान तक पाई जा सकती है।

कृष्णादि छह लेश्याओ मे पहले से लेकर चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते है—'छल्लेसा जाव सम्मोत्ति'।

लेश्या मार्गणा के छह भेदो मे यह गुणस्थानो का कथन सामान्य से किया गया है। जिसका विशेष स्पष्टीकरण आगे की गाथा मे करते हैं।

अपुव्वाइसु सुक्का नत्थि अजोगिम्मि तिन्नि सेसाण।
मीसोएगो चउरो असजयासजया सेसा ॥२१॥

शब्दार्थ—अपुव्वाइसु—अपूर्वकरणादि मे, सुक्का—शुक्ल लेश्या, नत्थि—नही होती है, अजोगिम्मि—अयोगि में, तिन्नि—तीन, सेसाण—शेष गुण-

---

घाती कषायो के उदय मे युक्त उसका उदय चारित्र का घात करता है। वेद के तीव्र, मद आदि असख्य भेद होते है। उनमे के कितने ही मद भेद ऊपर के गुणस्थान मे भी प्रतीयमान होते है किन्तु अत्यन्त मद होने से गुण के बाधक नहीं होते हैं।

स्थानो मे, मीसो—मिश्र मे, एगो—एक, चउरो—चार, असंजया—असयत मे, सजया—सयत मे, सेसा–शेष गुणस्थान ।

गाथार्थ—अपूर्वकरणादि मे शुक्ललेश्या होती है। अयोगि मे एक भी लेश्या नही होती है और शेष गुणस्थानो मे तीन लेश्याये होती है। मिश्र में एक, असयत मे चार और शेष गुणस्थान सयत के होते है।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध मे पृथक्-पृथक् लेश्याओ मे गुणस्थानो का और उत्तरार्ध मे मिश्रसम्यक्त्व मार्गणा एव सयम, असयम के भेद से सयममार्गणा मे गुणस्थानो का कथन किया है।

सर्वप्रथम लेश्या-भेदो मे गुणस्थान बतलाते है कि 'अपुव्वाइसु सुक्का'—अपूर्वकरण नामक आठवे गुणस्थान से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक छह गुणस्थानो मे शुक्ललेश्या होती है और 'नत्थि अजोगिम्मि'—अयोगिकेवली गुणस्थान मे कोई भी लेश्या नही है। क्योकि जहाँ तक योग हो वही तक लेश्या होती है, किन्तु इस गुणस्थान मे योग का अभाव है।

शेष रहे देशविरत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत मे तेजो, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याये होती है। देशविरतादि को ये तीन शुभ लेश्याये देशविरति और सर्वविरति[1] को प्राप्त करने के समय होती है और उनकी प्राप्ति होने के बाद छह लेश्याये सभव है। इसका कारण यह है कि देशविरत आदि ये तीन गुणस्थान सम्यक्त्व-मूलक विरतिरूप हैं और इनकी प्राप्ति तेज, आदि शुभ लेश्याओ के समय होती है, कृष्णादि अशुभ लेश्याओ के समय नही होती है। तो

---

१ यहाँ सर्वविरति शब्द से प्रमत्तसयत नामक छठा गुणस्थान ग्रहण करना चाहिए। क्योकि अप्रमत्तविरत मे तो सदैव तीन शुभ लेश्यायें होती है। इस प्रकार लेश्यामार्गणा के छह भेदो मे छह गुणस्थान सभव हैं।

भी प्राप्ति हो जाने के वाद परिणामशुद्धि मे कुछ न्यूनता आने पर अशुभ लेश्यायें भी आ जाती है।[1]

लेकिन कृष्णादि छहो लेश्याओ मे पृथक्-पृथक् गुणस्थानो का विचार किया जाये तो कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्याओ मे आदि के छह् गुणस्थान होते है। इनमे से पहले चार गुणस्थान ऐसे हैं, जिन की प्राप्ति के समय और प्राप्ति के बाद भी उक्त तीन लेश्यायें होती हैं और देशविरत, प्रमत्तविरत ये दो गुणस्थान सम्यक्त्वमूलक होने से प्राप्ति के समय शुभ लेश्याये होती है किन्तु तत्पश्चात पारिणामिक शुद्धि मे न्यूनता के कारण अशुभलेश्या भी आने से पाँचवाँ और छठा गुणस्थान माने जाते है।[2]

तेजोलेश्या और पद्मलेश्या मे आदि के सात गुणस्थान होते है। इसका कारण यह है कि ये दोनो लेश्याये सातो गुणस्थानो को प्राप्त करने के समय और प्राप्ति के पश्चात् भी रहती है।

शुक्ललेश्या मे मिथ्यात्व से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते है। क्योकि चौदहवें गुणस्थान मे योग न रहने से लेश्या का अभाव है।

---

१ (क) सम्मत्तसुय सव्वासु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्त ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए ।।
—आव०निर्युक्ति ८८२

—सम्यक्त्व की प्राप्ति सव लेश्याओ में होती है, किन्तु चारित्र की प्राप्ति पिछली तीन लेश्याओं में होती है और चारित्र प्राप्त होने के वाद छह् में से कोई लेश्या हो सकती है।

(ख) सम्यक्त्व देशविरति सर्वविरतीनाप्रतिपत्ति कालेपु शुभलेश्यात्रयमेव, तदुत्तरकाल तु सर्वा अपि लेश्या परावर्तन्तेऽपीति।
—पचसग्रह, मलय टीका पृ० ४०

कहीं-कहीं कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओ में जो पहले चार गुणस्थान माने जाते है, वे गुणस्थानो की प्राप्ति की अपेक्षा मे समझना चाहिये कि उक्त-लेश्याओं के समय आदि के चार गुणस्थानो के सिवाय अन्य कोई गुणस्थान प्राप्त नही किया जा सकता है।

इस प्रकार विशेषता से लेश्याओ मे गुणस्थानो का कथन करने के पश्चात् अब शेष रही मार्गणाओ के भेदो मे गुणस्थान बतलाते है कि–

मनोयोग, वचनयोग और काययोग मार्गणाओ मे अयोगिकेवली को छोडकर पहले मिथ्यात्व से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते है।[1] क्योकि चौदहवे सयोगिकेवलिगुणस्थान मे किसी प्रकार का योग न रहने से योग मार्गणा मे आदि मे तेरह गुणस्थान माने जाते है।

ज्ञानमार्गणा के भेद मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मार्गणाओ मे चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थान होते है। क्योकि सम्यक्त्व-प्राप्ति के पूर्व तीन गुणस्थानो मे मति आदि अज्ञान रूप होते हे और अतिम दो गुणस्थानो मे क्षायिक उपयोग होने से इनका अभाव हो जाता है। इसीलिये मति आदि तीन ज्ञानो मे अविरतसम्यग्दृष्टि आदि नौ गुणस्थान माने जाते है।

---

१ मनोयोग आदि में गुणस्थानो का उक्त कथन सामान्य से किया है। उनके अवान्तर भेदो मे गुणस्थान इस प्रकार जानना चाहिये—

१ सत्यमन, असत्यामृषामन, सत्यवचन, असत्यामृषावचन, औदारिक काययोग इन पाच योगो मे मिथ्यात्व आदि सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान हैं।

२. असत्यमन, मिश्र मन, असत्यवचन, मिश्रवचन इन चार में आदि के बारह गुणस्थान होते हैं।

३ औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग मे पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवा ये चार गुणस्थान होते हैं।

४. वैक्रिय काययोग में आदि के सात और वैक्रियमिश्र काययोग में पहला, दूसरा, चौथा, पांचवां और छठा ये पाच गुणस्थान हैं।

५ आहारक काययोग में छठा, सातवा ये दो और आहारकमि" काययोग में सिर्फ छठा गुणस्थान होता है।

मनपर्याय ज्ञान मार्गणा मे प्रमत्तसयत नामक छठे से लेकर क्षीण-मोह पर्यन्त सात गुणस्थान हैं। यद्यपि मनपर्यायज्ञान की प्राप्ति तो सातवे अप्रमत्तसयत गुणस्थान मे होती है, किन्तु मनपर्यायज्ञानी प्रमत्त-सयत से लेकर क्षीणमोह गुणस्थान तक पाये जाने से सात गुणस्थान माने हैं।[1]

केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो मार्गणाओ मे सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये दो गुणस्थान होते है। क्योकि केवल-ज्ञान और केवलदर्शन ये दोनो क्षायिक भाव है और क्षायिक भाव वे कहलाते है, जो तदावरणकर्म के नि शेपरूपेण क्षय होने से सदा-सर्वदा के लिये निरावरण होकर एकरूप रहते है। केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का क्षय बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के चरम समय मे होता है, तब तेरहवे गुणस्थान की प्राप्ति होती है। इसीलिए केवल-द्विक मे सयोगि और अयोगि केवली अतिम दो गुणस्थान माने जाते है।

अज्ञानत्रिक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभगज्ञान ज्ञानमार्गणा के इन तीन भेदो मे मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र ये तीन गुणस्थान होते है। लेकिन सिद्धान्त की दृष्टि से विचार किया जाये तो वहाँ सासादन को ज्ञानरूप माना है। अत अज्ञानत्रिक में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान बतलाया है। यह तीन गुणस्थान मानना कार्मग्रथिको के

---

१ देव और नारको को स्वभावगत विशेपता से तथा तिर्यंच एकदेश चारित्र का पालन करने वाले होने से मनपर्यायज्ञान को प्राप्त नही करते हैं। मनुष्यो मे भी सर्वविरति का पालन करने पर मनपर्यायज्ञान सभी को नही होता है किन्तु उन्ही को पाया जाता है जो कर्मभूमिज, सज्ञी, पचेन्द्रिय, पर्याप्त, गर्भज, सम्यग्दृष्टि, सर्वविरति और प्रवर्धमान चारित्र वाले है।

मत से है और इसमें भी भिन्नता है। कुछ एक कार्मग्रथिक आचार्यों ने आदि के दो गुणस्थान और कुछ एक ने तीन गुणस्थान माने है। एतद्विषयक दोनो का दृष्टिकोण यह है—

अज्ञानत्रिक में आदि के दो गुणस्थान मानने वाले आचार्यो का मत है कि यद्यपि तीसरे मिश्रगुणस्थान के समय शुद्ध सम्यक्त्व—यथार्थ विषय-प्रतिपत्ति – न हो किन्तु उस गुणस्थान मे मिश्रदृष्टि होने से कुछ न कुछ यथार्थ ज्ञान की मात्रा रहती है। क्योकि मिश्रदृष्टि मे जब मिथ्यात्व का उदय अधिक प्रमाण मे हो तब तो अज्ञानाश अधिक और ज्ञानाश अल्प रहता है, किन्तु जब मिथ्यात्व का उदय मद हो और सम्यक्त्व पुद्गलो का उदय तीव्र रहता है तब ज्ञान की मात्रा अधिक और अज्ञान की मात्रा अल्प होती है। इस प्रकार मिश्रदृष्टि की कैसी भी स्थिति हो, किन्तु उसमे अल्पाधिक प्रमाण में ज्ञान संभव होने से उस समय के ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मानना उचित है। अत अज्ञानत्रिक मे आदि के दो गुणस्थान मानना चाहिये।[1]

अज्ञानत्रिक मे आदि के तीन गुणस्थान मानने वाले आचार्यों का मन्तव्य है—

तीसरे गुणस्थान के समय यद्यपि अज्ञान को ज्ञान मिश्रित कहा है, लेकिन मिश्रज्ञान को ज्ञान मानना उचित नही है, अज्ञान ही मानना चाहिये। क्योकि शुद्ध सम्यक्त्वविहीन सभी ज्ञान अज्ञान ही है। यदि सम्यक्त्वाश के कारण तीसरे गुणस्थान मे ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मान लिया जाये तो दूसरे गुणस्थान मे भी सम्यक्त्व का अश होने से ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मानना पड़ेगा। लेकिन यह इष्ट नही है। अज्ञानत्रिक मे दो गुणस्थान मानने वाले भी दूसरे गुणस्थान मे मति आदि को अज्ञान मानते है। इसलिये

१ दिगम्बर आचार्यों ने अज्ञानत्रिक मे पहले दो गुणस्थान माने है।

सासादन की तरह मिश्र गुणस्थान मे भी मति आदि को अज्ञान मान-कर अज्ञानत्रिक मे तीन गुणस्थान मानना चाहिये।

यहाँ अज्ञानत्रिक मे तीन गुणस्थान मानने के मत को स्वीकार किया गया है।

दर्शनमार्गणा के तीन भेदो—चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन मे पहले मिथ्यात्व से लेकर क्षीणमोह पर्यन्त बारह गुणस्थान होते है। वे इस अभिप्राय से माने है कि ये तीनो दर्शन क्षायोपशमिक है और क्षायोपशमिक भाव बारहवे गुणस्थान तक पाये जाते है और क्षायिक भावो के उत्पन्न होने पर क्षायोपशमिक भावो का अभाव हो जाता है। उन दोनो का साहचर्य नही रहता है।

सिद्धान्त मे अवधिज्ञान और अवधिदर्शन का भेद विवक्षा से वर्णन कर अवधिदर्शन मे पहले से लेकर बारहवें पर्यन्त बारह गुण-स्थान माने है अर्थात् अवधिज्ञानी की तरह विभगज्ञानी को भी अवधि-दर्शन माना है। तत् सम्बन्धी आगम पाठ का साराश इस प्रकार है—

हे भगवन्! अवधिदर्शन रूप अनाकार उपयोग वाले जीव ज्ञानी है या अज्ञानी ?

गौतम! ज्ञानी भी है और अज्ञानी भी हैं। जो ज्ञानी है उनमे कोई तीन ज्ञान वाले और कोई चार ज्ञान वाले है। जो अज्ञानी है वे मतिअज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभगज्ञानी समझना चाहिए (भगवती ८/२)।

सिद्धान्त के उक्त कथन का आशय यह है कि विभगज्ञान और अवधिदर्शन दोनो मे भेद है अभेद नही है। इसी कारण विभगज्ञानी मे अवधिदर्शन माना जाता है। सिद्धान्त के मतानुसार पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे विभगज्ञान सम्भव है, दूसरे आदि मे नही। इसलिए दूसरे आदि ग्यारह गुणस्थानो मे अवधिज्ञान के साथ और पहले गुणस्थान मे विभगज्ञान के साथ अवधिदर्शन का साहचर्य मानकर पहले से बारह गुणस्थान मानना चाहिए। क्योकि अवधिज्ञानी

और विभगज्ञानी के दर्शन में अनाकारता का अश समान है, इसीलिये विभगज्ञानी के दर्शन का विभगदर्शन ऐसा अलग नाम न रखकर एक अवधिदर्शन रखा है।

इसी सिद्धान्त पक्ष को स्वीकार करके यहाँ अवधिदर्शन मे आदि के बारह गुणस्थान माने है। लेकिन कुछ कार्मग्रथिक आचार्य पहले तीन गुणस्थानो मे अवधिदर्शन नही मानकर चौथे से बारहवे तक नौ गुणस्थानो मे और कुछ विद्वान तीसरे से बारहवे तक दस गुणस्थानों मानते हे। इस मतभिन्नता का कारण है—पहले तीन गुणस्थानो मे और आदि के दो गुणस्थानो मे अज्ञान मानना। यद्यपि ये दोनो प्रकार के कार्मग्रथिक आचार्य अवधिज्ञान से अवधिदर्शन को अलग मानते है परन्तु विभगज्ञान से अवधिदर्शन का उपयोग अलग नही मानते है। इसके लिए उनकी युक्ति है कि जैसे विभगज्ञान से विषय का यथार्थ ज्ञान नही होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वयुक्त अवधिदर्शन से भी नही होता है। इस अभेद विवक्षा के कारण पहले मत के अनुसार चौथे से बारह तक और दूसरे मत के अनुसार तीसरे से बारह गुणस्थान तक अवधिदर्शन माना जाता है।[1]

मिश्रसम्यक्त्वमार्गणा और देशविरतचारित्रमार्गणा मे अपने-अपने नाम वाला एक-एक गुणस्थान है। क्योंकि तीसरा गुणस्थान मिश्रदृष्टिरूप और पाँचवाँ देशविरतिरूप है। अविरति मार्गणा में आदि के चार गुणस्थान—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अविरत-

---

१ चौथे से लेकर बारहवें तक नौ गुणस्थानों मे अवधिदर्शन मानने का पक्ष प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ गाथा २९ तथा सर्वार्थसिद्धि टीका मे निर्दिष्ट है—'अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि।' तथा तीसरे से बारहवें तक दस गुणस्थानों मे अवधिदर्शन मानने का पक्ष प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ गाथा ७०-७१ मे बताया है। गोम्मटसार जीवकाण्ड मे भी दोनो पक्षो का संकेत गाथा ६९१ और ७०४ में है।

सम्यग्दृष्टि—होते है। क्योकि आगे के गुणस्थान पाँचवें आदि सब गुणस्थान विरतिरूप है।

अब सयम मार्गणा के सामायिक आदि यथाख्यात पर्यन्त पाँच भेदो मे गुणस्थान बतलाते हैं। सामान्य नियम यह है कि इनका पालन सयत मुनि करते हैं और उनकी प्राप्ति सर्वसयम सापेक्ष है परन्तु भेदो की अपेक्षा उनमे पाये जाने वाले गुणस्थान इस प्रकार समझना चाहिए —

सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र मार्गणा मे छठे प्रमत्तसयत से लेकर नौवे अनिवृत्तिबादर गुणस्थान तक चार गुणस्थान है। क्योकि ये सरागसयम होने से ऊपर के गुणस्थानो मे नही पाये जाते है। परिहारविशुद्धिचारित्रमार्गणा मे छठा और सातवा ये दो गुणस्थान है। इसका कारण यह है कि परिहारविशुद्धि सयम के रहने पर श्रेणि आरोहण नही किया जा सकता है और श्रेणि का आरोहण आठवे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। इसलिये इसमे छठा, सातवाँ गुणस्थान समझना चाहिये। सूक्ष्मसपराय चारित्र मे स्वनाम वाला एक सूक्ष्मसपराय गुणस्थान पाया जाता है। क्योकि दसवा गुणस्थान सूक्ष्मसपराय है। इसीलिये इसमे अपने नाम वाला एक गुणस्थान कहा है। यथाख्यातसयममार्गणा मे अतिम चार गुणस्थान होते हैं। क्योकि मोहनीय कर्म का उदयाभाव होने पर यह चारित्र प्राप्त होता होता है और मोहनीय कर्म का उदयाभाव ग्यारहवे उपशातमोह गुणस्थान से लेकर चौदहवें अयोगिकेवलिगुणस्थान तक रहने से यथाख्यात चारित्र मे अतिम चार गुणस्थान माने जाते है। तथा—

> अब्भव्विएसु पढम सव्वाणियरेसु दो असन्नीसु।
> सन्नीसु बार केवलि नो सन्नी नो असण्णी वि ॥३२॥

शब्दार्थ—अब्भव्विएसु—अभव्यो में, पढम—पहला, सव्वाणियरेसु—इतर (भव्यो) मे सभी, दो—दो, असन्नीसु—असज्ञियो मे, सन्नीसु—

सज्ञियो मे, बार—बारह, केवलि—केवलज्ञानी, नोसन्नी—नो सज्ञी, नो—असण्णी—नो असज्ञी, वि—भी।

गाथार्थ—अभव्यो मे पहला, भव्यो मे सभी, असज्ञियो में दो और सज्ञियो मे बारह गुणस्थान होते है। केवलज्ञानी नो सज्ञी नो असज्ञी है।

विशेषार्थ—गाथा में भव्य और संज्ञी मार्गणा के भेदो में गुणस्थान बतलाये है।

भव्य मार्गणा के दो भेद है—भव्य और अभव्य। इनमे से पहले अभव्य भेद मे गुणस्थानो को बताया है कि 'अभव्विएसु पढम'—अभव्यो मे पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। अभव्यो में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान इसलिये माना जाता है कि वे स्वभावत. ही सम्यक्त्व-प्राप्ति की योग्यता वाले नही है और सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना दूसरा आदि आगे के गुणस्थान सभव नही है, लेकिन 'सव्वाणियरेसु'—अभव्य से इतर—प्रतिपक्षी अर्थात् भव्य मार्गणा में सभी प्रकार के परिणाम सभव होने से सभी गुणस्थान—पहले मिथ्यात्व के लेकर अयोगि-केवली पर्यन्त चौदह गुणस्थान सभव है।

सज्ञी मार्गणा के सज्ञी और असंज्ञी इन दो भेदो मे से असज्ञी मे आदि के दो गुणस्थान होते है—'दो असन्नीसु'। इसका कारण यह है कि पहला मिथ्यात्वगुणस्थान तो सामान्यत सभी असज्ञी जीवो को होता है और दूसरा सासादनगुणस्थान लब्धि-पर्याप्त को करण-अपर्याप्त अवस्था मे पाया जाता है। क्योकि लब्धि-अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि मे कोई जीव सासादन भाव सहित आकर उत्पन्न नही होता है। इसी-लिये असज्ञी मार्गणा मे पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान माने जाते हैं।

सज्ञी मार्गणा मे अतिम दो—सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानो को छोडकर शेप पहले से बारह तक बारह गुणस्थान होते हैं—'सन्नीसु बार'। क्योकि सयोगिकेवली और अयोगिकेवली सज्ञी नही

कहलाते हैं परन्तु द्रव्यमन का उनके साथ सम्बन्ध है इसलिये असज्ञी भी नही कहा जा सकता है। इसी स्थिति को स्पष्ट करने के लिये ग्रथकार आचार्य ने गाथा मे पद दिया है—'केवलि नोसन्नी नो असन्नी वि'। इसी मतव्य का समर्थन सप्ततिकाचूर्णि से भी होता है—

'मणकरण केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो वुच्चति। मणोविन्नाण पडुच्चते सन्निणो न हवति त्ति।'

अर्थात् केवली भगवान के मनकरण—द्रव्यमन है, जिससे वे सज्ञी कहलाते हैं, किन्तु मनोविज्ञान की अपेक्षा वे सज्ञी नही है।

केवली भगवान को नोसज्ञी, नोअसज्ञी कहने के उक्त कथन का साराश यह है कि मनोवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके उनके द्वारा विचार करती हुई आत्माएँ सज्ञी कहलाती है। तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान मे केवलज्ञान होने से मनोवर्गणा द्वारा विचारकर्तृत्व नही है परन्तु केवलज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानकर अन्य क्षेत्र मे रहे हुए मनपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देवो का उत्तर देने के लिये मनोवर्गणाओ को ग्रहण करते है, जिससे उनमे द्रव्यमन है भावमन नही है। भावमन नही होने के कारण सज्ञी भी नही कहा जा सकता है, किन्तु द्रव्यमन होने से सज्ञी भी कहा जायेगा। साराश यह है कि बारहवे गुणस्थान तक मनोवर्गणाओ का ग्रहण और उनके द्वारा मनन परिणाम भी होता है, जिससे वे सज्ञी कहलाते हैं। इसीलिये सज्ञीमार्गणा मे आदि के बारह गुणस्थान माने गये हे।[1] तथा—

अपमत्तुवसन्त अजोगि जाव सव्वेवि अविरयाइया।
वेयग-उवसम-खाइयदिट्ठी कमसो मुणेयव्वा ॥२३॥

---

१ भूतपूर्व प्रज्ञापननय की अपेक्षा केवलिद्विक गुणस्थानो को सज्ञी मानने पर सज्ञीमार्गणा मे चौदह गुणस्थान भी माने जा सकते हैं।

शब्दार्थ—अपमत्त—अप्रमत्तसयत, उवसन्त—उपशातमोह, अजोगि—अयोगिकेवली, जाव—तक, सव्वेवि—सभी, अविरयाइया—अविरत से प्रारभ करके, वेयग-उवसम-खायइदिट्ठी—वेदक (क्षायोपशमिक) उपशम और क्षायिक सम्यग्दृष्टि मे, कमसो—क्रम से, मुणेयव्वा—जानना चाहिये।

गाथार्थ—अविरत से प्राम्भ करके अप्रमत्तसंयत, उपशात-मोह और अयोगिकेवली तक के गुणस्थान क्रम से वेदक, उपशम और क्षायिक सम्यग्दृष्टि मार्गणाओ मे जानना चाहिये।

विशेषार्थ– गाथा मे सम्यक्त्वमार्गणा के मुख्य तीन भेदो मे गुण-स्थान बतलाये है और उनमे 'अविरयाइया' अविरत से प्रारम्भ करके अनुक्रम से अप्रमत्तासयत, उपशातमोह और अयोगिकेवली गुणस्थानो का सम्वध जोडने का सकेत किया है। जिसका स्पष्टीकरण के साथ विवेचन इस प्रकार है—

'अविरयाइया'—अर्थात् सम्यक्त्व-प्राप्ति की प्रारम्भिक भूमिका अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थान है। इसी बात का सकेत करने के लिये ग्रथकार आचार्य ने वेदक सम्यक्त्व आदि मे गुणस्थानो की सख्या की गणना चौथे अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान से प्रारभ की है कि वेदक-सम्यक्त्व यानि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्तसयत पर्यन्त चार गुणस्थान होते है। क्योकि यह सम्यक्त्व तभी होता है, जब सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो और श्रेणि-आरोहण के पूर्व तक रहता है। श्रेणि का प्रारभ आठवें गुणस्थान मे होता है और सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय उससे पूर्व के गुणस्थान—अप्रमत्तसयत तक रहता है। इसी कारण वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व मे चौथे से सातवे तक चार गुणस्थान माने जाते है।

औपशमिक सम्यक्त्व मे चौथे मे लेकर ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थान होते है। इनमे चौथा आदि चार गुण

स्थान प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय और आठवे से लेकर ग्यारहवे तक चार गुणस्थान उपशम श्रेणि के समय होते है। इसी कारण इन दोनो प्रकार के औपशमिक सम्यक्त्व के कुल मिलाकर आठ गुणस्थान औपशमिक सम्यक्त्व मे माने जाते है।[1]

क्षायिक सम्यक्त्व मे अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त ग्यारह गुणस्थान होते है। क्योकि क्षायिक सम्यक्त्व चौथे आदि गुणस्थान मे प्राप्त होता है और प्राप्ति के बाद सदा के लिये रहता है। इसीलिये इसमे चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर चौदहवे अयोगि-केवली पर्यन्त ग्यारह गुणस्थान माने गये है और गुणस्थानातीत सिद्धो मे तो क्षायिक सम्यक्त्व ही पाया जाता है। मार्गणास्थानो मे गुणस्थानो का निरूपण करने से यहाँ उसका पृथक से सकेत समझना चाहिये। तथा—

सम्यक्त्वमार्गणा के उक्त भेदो के अतिरिक्त शेप रहे मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यक्त्व और मिश्रसम्यक्त्व भेदो मे अपने-अपने नाम वाला एक-एक गुणस्थान होता है। क्योकि पहला गुणस्थान मिथ्यात्व रूप, दूसरा सासादन रूप और तीसरा मिश्रदृष्टि रूप है। इसीलिए मिथ्यात्व आदि तीनो मे अपने नामवाला एक-एक गुणस्थान बताया है। शेष रहे मार्गणास्थान भेद आहारक मे गुणस्थान इस प्रकार है—

आहारगेसु तेरस पच अणाहारगेसु वि भवति।
भणिया जोगुवयोगाणमग्गणा बधगे भणिमो ॥३४॥

---

१ दिगम्बर साहित्य मे औपशमिक सम्यक्त्व के प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम यह दो भेद करके पृथक्-पृथक गुणस्थान इस प्रकार बतलाये हैं—

अयदादो पढमुवसमवेदगसम्मत्तदुग अप्पमत्तोत्ति।

गो जीवकाड गा. ६९४

विदियुवसमसम्मत्त अविरदसम्मादि सतमोहोत्ति।

—गो जीवकाड गा ६९५

शब्दार्थ—आहारगेसु—आहारको मे, तेरस—तेरह, पच—पाच, अणाहारगेसु—अनाहारको मे, वि—भी, भवति—होते है, भणिया—कथन किया, जोगुवयोगाण—योगोपयोगो की, मग्गणा—मार्गणा, बधगे—बधक जीवो का, भणिमो—वर्णन करूगा ।

गाथार्थ—आहारको मे तेरह और अनाहारको मे पाँच गुणस्थान होते है । इस प्रकार से योगोपयोगमार्गणा का कथन किया, अब (कर्म) बंधक जीवो का वर्णन करूगा ।

विशेषार्थ—गाथा मे अन्तिम मार्गणा आहार के दो भेदो मे गुणस्थानो का निर्देश करके अधिकार समाप्ति एव क्रम-प्राप्त दूसरे बधक अधिकार को प्रारम्भ करने का सकेत किया है ।

आहारमार्गणा के दो भेद है—आहारक और अनाहारक । इनमे से आहारक जीवो के अयोगिकेवलिगुणस्थान को छोडकर शेष पहले मिथ्यात्व मे लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते है—'आहारगेसु तेरस' । क्योकि अयोगिकेवलिगुणस्थान मे किसी प्रकार का आहार ग्रहण नही किये जाने से तेरह गुणस्थान ही सम्भव है । तथा 'पच अणाहारगे' अनाहारकमार्गणा मे पाँच गुणस्थान है । वे इस प्रकार—

पहला मिथ्यात्व, दूसरा सासादन, चौथा अविरतसम्यग्दृष्टि और अतिम दो—अयोगिकेवली, अयोगिकेवली गुणस्थान । इनमे से पहला-दूसरा और चौथा गुणस्थान तो विग्रहगति की अनाहारक-कालीन अवस्था की अपेक्षा और तेरहवा गुणस्थान केवलिसमुद्घात के तीसरे-चौथे और पाँचवे समय मे होने वाली अनाहारक दशा की अपेक्षा और चौदहवाँ गुणस्थान योगनिरोधजन्य अनाहारकत्व की अपेक्षा जानना चाहिये । चौदहवे गुणस्थान मे योग का अभाव हो जाने से औदारिक आदि शरीरो के पोषक पुद्गलो का ग्रहण

करने और उन-उन पुद्‌गलो का आगमन रुक जाने से अनाहार-कत्व है।

इस प्रकार से मार्गणास्थान भेदो मे गुणस्थानो का विधान जानना चाहिये। सरलता से समझने के लिये प्रारूप परिशिष्ट मे देखिये।

उक्त प्रकार से योगोपयोगमार्गणा से सम्बन्धित विषयो का वर्णन समाप्त होने पर ग्रथकार आचार्य ने उपसहार करने के लिये सकेत दिया है—'भणिया जोगुवयोगाणमग्गणा' अर्थात् योगोपयोमार्गणा अधिकार का तो कथन पूर्ण हुआ अब क्रम-प्राप्त बधक अधिकार की प्ररूपणा करते हैं—'बधगे भणिमो'।

इस प्रकार से योगोपयोमार्गणा अधिकार पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट १

योगोपयोगमार्गणा-अधिकार की मूल गाथायें

नमिऊण जिण वीर सम्म दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवग ।
वोच्छामि पचसगहमेय महत्थ जहत्थ च ॥१॥
सयगाइ पच गथा जहारिह जेण एत्थ सखित्ता ।
दाराणि पच अहवा तेण जहत्थाभिहाणमिण ॥२॥

एत्थ य जोगुवयोगाणमग्गणा बधगा य वत्तव्वा ।
तह बधियव्व य बधहेयवो बधविहिणो य ॥३॥

सच्चमसच्च उभय असच्चमोस मणोवई अट्ठ ।
वेउव्वाहारोरालमिस्ससुद्धाणि कम्मयग ॥४॥

अन्नाणतिग नाणाणि पच इइ अट्ठहा उ सागरो ।
अचक्खुदसणाइचउहुवओगो अणागारो ॥५॥

विगलासन्नीपज्जत्तएसु लब्भति कायवइयोगा ।
सव्वेवि सन्निपज्जत्तएसु सेसेसु काओगो ॥६॥

लद्धीए करणेहि य ओरालियमीसगो अपज्जत्ते ।
पज्जत्ते ओरालो वेउव्विय मीसगो वा वि ॥७॥

कम्मुरलदुगमपज्जे वेउव्विदुग च सन्निलद्धिल्ले ।
पज्जेसु उरलोच्चिय वाए वेउव्वियदुग च ॥
मइसुयअन्नाण अचक्खु दसणेक्कारसेसु ठाणेसु ।
पज्जत्तचउपणिदिसु सचक्खु सन्नीसु वारसवि ॥८॥

इगिविगलथावरेसु न मणो दो भेय केवलदुगम्मि ।
इगिथावरे न वाया विगलेसु असच्चमोसेव ॥९॥

सच्चा असच्चमोसा दो दोसुवि केवलेसु भासाओ।
अतरगइ केवलिएसु कम्मयन्नत्थ त विवक्खाए ॥१०॥

मणनाणविभगेसु मीस उरलपि नारयसुरेसु।
केवलथावरविगले वेउव्विदुग न सभवइ ॥११॥
आहारदुग जायइ चोद्दसपुव्विस्स इइ विसेसणओ।
मणुयगइपचेदियमाइएसु समईए जोएज्जा ॥१२॥

मणुयगईए बारस मणकेवलवज्जिया नवन्नासु।
इगिथावरेसु तिन्नि उ चउ विगले बार तससगले ॥१३॥
जोए वेए सन्नी आहारगभव्वसुक्कलेसासु।
बारस सजमसमे नव दस लेसाकसाएसु ॥१४॥

सम्मत्तकारणेहिं मिच्छनिमित्ता न होंति उवओगा।
केवणदुगेण सेसा सतेव अचक्खुचक्खूसु ॥१५॥
जोगाहारदुगूणा मिच्छे सासायणे अविरए य।
अपुव्वाइसु पचसु नव ओरालो मणवई य ॥१६॥
वेउव्विणाजुया ते मीसे साहारगेण अपमत्ते।
देसे दुविउव्विजुया आहारदुगेण य पमत्ते ॥१७॥
अज्जोगो अज्जोगी सत्त सजोगमि होंति जोगा उ।
दो दो मणवइजोगा उरालदुग सकम्मइग ॥१८॥

अचक्खुचक्खुदसणमन्नाणतिग च मिच्छसासाणे।
विरयाविरए सम्मे नाणतिग दसणतिग च ॥१९॥
मिस्समि वामिस्स मणनाणजुय पमत्तपुव्वाण।
केवलियनाणदसण उवओगा अजोगिजोगीसु ॥२०॥

गइ इदिए य काए जोए वेए कसाय नाणे य।
सजमदसणलेसा भवसन्निसम्म आहारे ॥२१॥

तिरियगइए चोद्दस नारयसुरनरगईसु दो ठाणा।
एगिंदिएसु चउरो विगलपणिंदीसु छच्चउरो ॥२२॥

दस तसकाए चउ चउ थावरकाएसु जीवठाणाई।
चत्तारि अट्ठ दोन्नि य कायवईमाणसेसु कमा ॥२३॥

चउ चउ पुमित्थिवेए सव्वाणि नपुंससपराएसु।
किण्हाइतिगाहारगभव्वाभव्वे य मिच्छे य ॥२४॥

तेउलेसाइसु दोन्नि सजमे एक्कमट्ठमणहारे।
सण्णी सम्मंमि य दोन्नि सेसयाइ असन्निम्मि ॥२५॥

दुसु नाणदसणाइ सव्वे अण्णाणिणो य विन्नेया।
सन्निम्मि अयोगि अवेइ एवमाइ मुणेयव्व ॥२६॥

दो मइसुयओहिदुगे एक मणनाणकेवलविभगे।
छ तिग व चक्खुदसण चउदस ठाणाणि सेस तिगे ॥२७॥

सुरनारएसु चत्तारि पच तिरिएसु चोद्दस मणूसे।
इगि विगलेसु जुयल सव्वाणि पणिदिसु हवति ॥२८॥

सव्वेसुवि मिच्छो वाउतेउसुहुमतिग पमोत्तूण।
सासायणो उ सम्मो सन्निदुगे सेस सन्निम्मि ॥२९॥

जा बायरो ता वेएसु तिसु वि तह तिसु य सपराएसु।
लोभमि जाव सुहुमो छल्लेसा जाव सम्मोत्ति ॥३०॥

अपुव्वाइसु सुक्का नत्थि अजोगिम्मि तिन्नि सेसाण।
मीसो एगो चउरो असजया सजया सेसा ॥३१॥

अभव्विएसु पढम सव्वाणियरेसु दो असन्नीसु।
सन्नीसु बार केवलि नो सन्नी नो असन्नीवि ॥३२॥

अपमत्तुवसन्तअजोगि जाव सव्वेवि अविरयाईया।
वेयगउवसमखाइयदिट्ठी कमसो मुणेयव्वा ॥३३॥

आहारगेसु तेरस पच अणाहारगेसु वि भवति।
भणिया जोगुवयोगाणमग्गणा बधगे भणिमो ॥३४॥

❋

परिशिष्ट · २

१

दिगम्बरसाहित्य मे अपेक्षाभेद से जीवस्थानो के भेदो का वर्णन

जैन वाङ्मय मे ससार के अनन्त जीवो का गुण, धर्म, स्वभाव, आकार-प्रकार, इन्द्रियो आदि की समानता की अपेक्षा वर्गीकरण किया है। लेकिन इस वर्गीकरण की अपनी-अपनी दृष्टि है और उसका कारण है—जीवमात्र मे विद्यमान विशेपताओ का सुगमता से बोध कराना। इसीलिये किसी मे दृश्यमान शरीर, इन्द्रियो आदि की, किसी मे बाह्य शरीर आदि के साथ-साथ उनमे प्राप्त भावो की और किसी मे मात्र भावो की मुख्यता है। जिनके नाम क्रमश जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान हैं। उनमे से पहले यहाँ जीवस्थानो के भेदो का विचार करते है।

जीवस्थानो के वर्गीकरण मे बाह्य शरीर, इन्द्रिय आदि की अवस्थायें मुख्य हैं। इसीलिये जीवस्थान का सामान्य लक्षण बतलाया है कि जिनके द्वारा अनेक जीव एव उनकी अनेक प्रकार की जातिया जानी जाये, अनेक जीवो का अथवा जीवो की अनेक जातियो का सग्रह किया जाये। अर्थात् त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण इन चार युगलो मे से अविरुद्ध त्रसादि कर्मो से युक्त जातिनामकर्म का उदय होने पर जीवो मे प्राप्त होने वाले ऊर्ध्वतासामान्य[1] रूप या तिर्यक्सामान्य[2] रूप धर्मो को जीवस्थान कहते हैं।

शास्त्रो मे स्थान, योनि, शरीर की अवगाहना और कुलो के भेद, इन चार

---

१ एक पदार्थ की कालक्रम से होने वाली अनेक पर्यायो मे रहने वाले समान धर्म को ऊर्ध्वतासामान्य अथवा सादृश्यसामान्य कहते है।

२ एक समय मे अनेक पदार्थगत सादृश्य धर्म को तिर्यक्सामान्य कहते है।

अधिकारों के द्वारा जीवस्थानों का समग्ररूपेण विवेचन किया है। लेकिन यहाँ इन चारों में से स्थान की अपेक्षा जीवस्थानों के भेद बतलाये हैं।

जीवस्थानों के क्रमशः चौदह, इक्कीस, तीस, बत्तीस, छत्तीस, अड़तीस, अड़तालीस, चउवन और सत्तावन भेद होते हैं। इन भेदों में चौदह भेद मुख्य हैं और अपेक्षा से भेद किये जाने पर उनके इक्कीस आदि भेद बनते हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जीवस्थानों के चौदह भेद—

बादर एकेन्द्रिय	× २	अपर्याप्त-पर्याप्त		=	२
सूक्ष्म एकेन्द्रिय	× २	अपर्याप्त-पर्याप्त		=	२
द्वीन्द्रिय	× २	,,	,,	=	२
त्रीन्द्रिय	× २	,,	,,	=	२
चतुरिन्द्रिय	× २	,,	,,	=	२
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× २	,,	,,	=	२
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× २	,,	,,	=	२
					१४

जीवस्थानों के इक्कीस भेद—

बादर एकेन्द्रिय	× ३	लब्ध्यपर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त (करण-अपर्याप्त), पर्याप्त			=	३
सूक्ष्म एकेन्द्रिय	× ३	लब्ध्यपर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त (करण-अपर्याप्त), पर्याप्त			=	३
द्वीन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
त्रीन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
चतुरिन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	,,	,,	,,	=	३
						२१

जीवस्थानों के तीस भेद—

पृथ्वीकाय	× २ बादर-सूक्ष्म	× २ अपर्याप्त-पर्याप्त		=	४
जलकाय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,		=	४
तेजस्काय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,		=	४
वायुकाय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,		=	४
वनस्पतिकाय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,		=	४
द्वीन्द्रिय	× २ अपर्याप्त-पर्याप्त			=	२
त्रीन्द्रिय	× २ ,, ,,			=	२
चतुरिन्द्रिय	× २ ,, ,,			=	२
असज्ञी पचेन्द्रिय	× २ ,, ,,			=	२
सज्ञी पचेन्द्रिय	× २ ,, ,,			=	२
					३०

जीवस्थानो के बत्तीस भेद—

पृथ्वीकाय	× २ बादर-सूक्ष्म	× २ अपर्याप्त-पर्याप्त		=	४
जलकाय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,		=	४
तेजस्काय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,		=	४
वायुकाय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,		=	४
साधारण वनस्पति	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,		=	४
प्रत्येक वनस्पति	× २ अपर्याप्त-पर्याप्त			=	२
द्वीन्द्रिय	× २ ,, ,,			=	२
त्रीन्द्रिय	× २ ,, ,,			=	२
चतुरिन्द्रिय	× २ ,, ,,			=	२
असज्ञी पचेन्द्रिय	× २ ,, ,,			=	२
सज्ञी पचेन्द्रिय	× २ ,, ,,			=	२
					३२

जीवस्थानो के छत्तीस भेद—

पृथ्वीकाय	× २ वादर-सूक्ष्म	× २ अपर्याप्त-पर्याप्त	=	४
जलकाय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,	=	४
तेजस्काय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,	=	४
वायुकाय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,	=	४
साधारण नित्यनिगोद वनस्पति	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,	=	४
साधारण इतरगतिनिगोद वनस्पति	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,	=	४
प्रत्येक वनस्पति	× २ अपर्याप्त-पर्याप्त		=	२
द्वीन्द्रिय	× २ ,, ,,		=	२
त्रीन्द्रिय	× २ ,, ,,		=	२
चतुरिन्द्रिय	× २ ,, ,,		=	२
असज्ञी पचेन्द्रिय	× २ ,, ,,		=	२
सज्ञी पचेन्द्रिय	× २ ,, ,,		=	२
				३६

जीवस्थानो के अडतीस भेद—

पृथ्वीकाय	× २ वादर-सूक्ष्म	× २ अपर्याप्त-पर्याप्त	=	४
जलकाय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,	=	४
तेजस्काय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,	=	४
वायुकाय	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,	=	४
साधारण नित्यनिगोद वनस्पति	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,	=	४
साधारण इतरगतिनिगोद वनस्पति	× २ ,, ,,	× २ ,, ,,	=	४
सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति	× २ अपर्याप्त-पर्याप्त		=	२
अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति	× २ ,, ,,		=	२
द्वीन्द्रिय	× २ ,, ,,		=	२
त्रीन्द्रिय	× २ ,, ,,		=	२
चतुरिन्द्रिय	× २ ,, ,,		=	२
असज्ञी पचेन्द्रिय	× २ ,, ,,		=	[illegible]
सज्ञी पचेन्द्रिय	× २ ,, ,,		=	[illegible]
				[illegible]

जीवस्थानों के अड़तालीस भेद—

पृथ्वीकाय	× २	बादर-सूक्ष्म	× ३	लब्ध्यपर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त-पर्याप्त	= ६
जलकाय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	= ६
तेजस्काय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	= ६
वायुकाय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	= ६
साधारण वनस्पति	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	= ६
प्रत्येक वनस्पति	× ३			लब्ध्यपर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त-पर्याप्त	= ३
द्वीन्द्रिय	× ३			,, ,, ,,	= ३
त्रीन्द्रिय	× ३			,, ,, ,,	= ३
चतुरिन्द्रिय	× ३			,, ,, ,,	= ३
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३			,, ,, ,,	= ३
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३			,, ,, ,,	= ३
					४८

जीवस्थानों के चउवन भेद—

पृथ्वीकाय	× २	बादर-सूक्ष्म	× ३	लब्ध्यपर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त-पर्याप्त	= ६
जलकाय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	= ६
तेजस्काय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	= ६
वायुकाय	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	= ६
साधारण नित्यनिगोद वनस्पति	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	= ६
साधारण इतरगतिनिगोद वनस्पति	× २	,, ,,	× ३	,, ,,	= ६
प्रत्येक वनस्पति	× ३			लब्ध्यपर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त-पर्याप्त	= ३
द्वीन्द्रिय	× ३			,, ,, ,,	= ३
त्रीन्द्रिय	× ३			,, ,, ,,	= ३
चतुरिन्द्रिय	× ३			,, ,, ,,	= ३
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३			,, ,, ,,	= ३
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३			,, ,, ,,	= ३
					५४

जीवस्थानो के सत्तावन भेद—

पृथ्वीकाय	× २ बादर-सूक्ष्म	× ३ लब्ध्यपर्याप्त-निवृत्यपर्याप्त-पर्याप्त	=	६
जलकाय	× २ ,, ,,	× ३ ,, ,,	=	६
तेजस्काय	× २ ,, ,,	× ३ ,, ,,	=	६
वायुकाय	× २ ,, ,,	× ३ ,, ,,	=	६
साधारण नित्यनिगोद वनस्पति	× २ ,, ,,	× ३ ,, ,,	=	६
साधारण इतरगतिनिगोद वनस्पति	× २ ,, ,,	× ३ ,, ,,	=	६
सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति		× ३ लब्ध्यपर्याप्त-निवृत्यपर्याप्त-पर्याप्त	=	३
अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति		× ३ ,, ,, ,,	=	३
द्वीन्द्रिय		× ३ ,, ,, ,,	=	३
त्रीन्द्रिय		× ३ ,, ,, ,,	=	३
चतुरिन्द्रिय		× ३ ,, ,, ,,	=	३
असज्ञी पचेन्द्रिय		× ३ ,, ,, ,,	=	३
सज्ञी पचेन्द्रिय		× ३ ,, ,, ,,	=	३
				५७

स्थान की अपेक्षा जीवस्थानो के भेद—

जीवस्थानो के भेदो का पूर्वोक्त एक प्रकार है। अब यदि दूसरे प्रकार से जीवस्थानो के भेदो का विचार किया जाये तो स्थान की अपेक्षा इस प्रकार भी किया जा सकता है।

सामान्य से जीवस्थान का एक भेद है। क्योंकि जीव कहने से जीवमात्र का ग्रहण हो जाता है। त्रस और स्थावर की अपेक्षा दो भेद, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय (पचेन्द्रिय) की अपेक्षा तीन भेद, यदि इनमे पचेन्द्रिय

के सज्ञी, असज्ञी दो भेद कर दिये जाये तो चार भेद, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय की अपेक्षा पाच भेद, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इस प्रकार काय की अपेक्षा छह भेद, यदि उक्त छह भेदो मे त्रस के सकल और विकल इस तरह दो भेद करके मिला दिये जायें तो सात भेद। इन सात भेदो मे सकल के सज्ञी-असज्ञी भेद करके मिलाने पर आठ भेद, सकल-विकल त्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय इस प्रकार चार भेद करके मिलाने पर नौ भेद और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय इस तरह पाच भेद करके मिलाने पर दस भेद होते है।

पूर्वोक्त पाच स्थावरो के वादर-सूक्ष्म की अपेक्षा दस भेद हुए। इनमे त्रस सामान्य का एक भेद मिलाने पर ग्यारह भेद तथा इन्ही पाच स्थावर युगलो मे त्रस के विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय दो भेद मिलाने से वारह भेद और त्रस के विकलेन्द्रिय और सज्ञी, असज्ञी पचेन्द्रिय इस प्रकार तीन भेद मिलाने से तेरह भेद और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय ये चार भेद मिलाने से चौदह भेद तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सज्ञी, असज्ञी पचेन्द्रिय ये पाच मिलाने से पन्द्रह भेद होते है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के नित्यनिगोद, इतरनिगोद इन छह के सूक्ष्म, वादर की अपेक्षा वारह भेद और प्रत्येक वनस्पति, इन तेरह मे त्रस के विकलेन्द्रिय और सज्ञी-असज्ञी पचेन्द्रिय, इन तीन भेदो को मिलाने से सोलह और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय, इन चार भेदो को मिलाने से सत्रह और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असज्ञी-सज्ञी पचेन्द्रिय, इन पाच भेदो को मिलाने से अठारह भेद होते है।

पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और नित्यनिगोद और इतरगतिनिगोद वनस्पति, इन छह भेदो के वादर-सूक्ष्म की अपेक्षा वारह भेद तथा प्रत्येक वनस्पति के प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित दो भेद, कुल चौदह भेदो मे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय, इन पाच भेदो को मिलाने मे जीवस्थान के उन्नीस भेद होते है।

ये उन्नीस भेद सामान्य से है। इनको पर्याप्त, अपर्याप्त से गुणा करने पर अडतीस तथा पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त से गुणा करने पर सत्तावन भेद होते है।

चार गतियो की अपेक्षा जीवस्थानो की सख्या इस प्रकार समझना चाहिए—

तिर्यंचगति—जीवस्थानो के उक्त सत्तावन भेदो मे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय सम्बन्धी इक्यावन भेद बतलाये है। कर्मभूमिज पचेन्द्रिय तिर्यंच के तीन भेद है—जलचर, थलचर और नभचर। ये तीनो ही तिर्यंच सज्ञी और असज्ञी होते है तथा गर्भज और सम्मूर्च्छिम होते है। परन्तु गर्भज तो पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त ही होते है और सम्मूर्च्छिमो मे पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त, लब्ध्य-पर्याप्त तीनो ही भेद होते है। इसलिए सम्मूर्च्छिमो के अठारह भेद और गर्भजो के बारह भेद। सब मिलाकर कर्मभूमिज तिर्यंचो के तीस भेद होते है। भोगभूमिज पचेन्द्रिय तिर्यंच के थलचर, नभचर दो ही भेद होते हैं[1] और ये दोनो ही पर्याप्त निवृत्यपर्याप्त होते है। इसलिए भोगभूमिज तिर्यंचो के चार भेद और कर्मभूमिज तिर्यंचो के तीस भेदो को उक्त इक्यावन भेदो मे मिलाने से तिर्यंचगति सम्बन्धी सम्पूर्ण जीवस्थान पचासी होते हैं।

मनुष्यगति—आर्यखड मे पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त तीनो ही प्रकार के मनुष्य होते है तथा म्लेच्छखड, भोगभूमि, कुभोगभूमि मे लब्ध्य-पर्याप्त को छोडकर दो-दो प्रकार के होते है। इस प्रकार तीन दो, दो, दो, कुल मनुष्यो मे नौ जीवस्थान है।

देव नरक गति—लब्ध्यपर्याप्त के सिवाय शेष निवृत्यपर्याप्त और पर्याप्त दो-दो भेद होते है।

इस प्रकार तिर्यंचो के पचासी, मनुष्यो के नौ, देवो के दो, नारको के दो, कुल मिलाकर जीवस्थानो के अवान्तर भेद अट्ठानवै होते है।[2]

---

१ भोगभूमि मे जलचर, सम्मूर्च्छिम तथा असज्ञी जीव नही होते हैं।

२ दिगम्बर पचसग्रह और गोम्मटसार जीवकाण्ड के आधार से।

२

सज्ञी-असज्ञी सम्बन्धी विशेषावश्यकभाष्यगत

विवेचन

नामनिक्षेप, ज्ञान और इच्छा के भेद से सज्ञी शब्द के तीन अर्थ हैं। नामनिक्षेप व्यवहार चलाने के लिए किसी का जो नाम रख दिया जाता है—'सज्ञा नामेत्युच्यते'। जैसे राम, महावीर आदि। धारणात्मक या ऊहापोह रूप विचारात्मक ज्ञानविशेष अर्थात् नोइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से जन्य ज्ञान को सज्ञा कहते हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि की इच्छा-अभिलाषा सज्ञा है—'आहारादि विषयाभिलाषा सज्ञेति'।

जीवो के सज्ञित्व-असज्ञित्व के विचार करने के प्रसग मे सज्ञा का आशय नामनिक्षेपात्मक न लेकर मानसिक क्रियाविशेष लिया जाता है। मानसिक क्रिया के दो प्रकार है—ज्ञानात्मक और अनुभवात्मक-अभिलाषात्मक (आहारादि की इच्छा रूप)। इसीलिए इस दृष्टि से सज्ञा के दो भेद है—ज्ञान और अनुभव।

मति, श्रुत आदि पाच प्रकार के ज्ञान ज्ञानसज्ञा है और आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, ओघ, लोक, मोह, धर्म, सुख, दुःख, जुगुप्सा और शोक ये अनुभवसज्ञा के भेद है।

ये अनुभवसज्ञायें न्यूनाधिक प्रमाण मे सभी जीवो के पाई जाती है। इसलिए ये तो सज्ञी-असज्ञी व्यवहार की नियामक नही है किन्तु ज्ञानसज्ञा है। उसका लक्षण ऊपर बताया जा चुका है कि नोइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम या तज्जन्य ज्ञान को सज्ञा कहते हैं। नोइन्द्रियावरणकर्म का क्षयोपशम होने पर जीव मन के अवलम्बन से शिक्षा आदि को ग्रहण करता है।

यद्यपि चैतन्य की अपेक्षा सभी जीव सामान्य हैं। क्योकि चैतन्य जीव का स्वभाव-स्वरूप है परन्तु ससारी जीवो मे चैतन्य के विकास की अपेक्षा

तारतम्य है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त के जीवो मे चैतन्य का विकास क्रमश अधिकाधिक है। इस विकास के तरतमभाव को समझने के लिए जीवो के निम्नलिखित चार विभाग किये जा सकते है—

(१) अत्यल्प विकास वाले जीव—इस विकास वाले जीव मूर्च्छित की तरह चेष्टारहित होते हैं। इनकी चेतना अव्यक्त रहती है। इस अव्यक्त चेतना को ओघसज्ञा कहते है। एकेन्द्रिय जीव ओघसज्ञा वाले होते हैं।

(२) कुछ व्यक्त चेतना वाले जीव— इस विभाग मे विकास की इतनी मात्रा विवक्षित है कि जिससे कुछ भूतकाल का स्मरण किया जा सके। इस विकास मे आसन्न भूतकाल का ही स्मरण किया जा सकता है, किन्तु सुदीर्घ भूतकाल का नही। इष्ट-अनिष्ट विषयो के प्रति प्रवृत्ति-निवृत्ति भी होती है। इस प्रवृत्ति-निवृत्तिकारी ज्ञान को हेतुवादोपदेशकी सज्ञा कहते है। इस दृष्टि-कोण से द्वीन्द्रियादि चार त्रस जीव सज्ञी हैं और पृथ्वीकायिक आदि पाच स्थावर असज्ञी हैं।

(३) सुदीर्घकालिक भूत का स्मरण और वर्तमानकालिक निश्चय—इस विभाग मे इतना विवक्षित है कि सुदीर्घकाल मे अनुभव किये हुए विषयो का स्मरण और उस स्मरण द्वारा वर्तमानकाल के कर्त्तव्यो का निश्चय किया जाये। यह कार्य विशिष्ट मन की सहायता से होता है। इस ज्ञान को दीर्घ-कालोपदेशकी सज्ञा कहते हैं। इस सज्ञा के फलस्वरूप सदर्थ के विचारने की बुद्धि, निश्चयात्मक विचारणा, अन्वय-व्यतिरेक धर्म का अन्वेषण-पर्यालोचन तथा भूत-वर्तमान-भविष्यकालीन कार्यपरम्परा की शृखला का ज्ञान कि भूत मे यह कार्य कैसे हुआ, वर्तमान मे कैसे हो रहा है और भविष्य मे कैसे होगा? इस प्रकार के विचारविमर्श से वस्तु के स्वरूप को अधिगत करने की क्षमता प्राप्त होती है। देव, नारक और गर्भज मनुष्य-तिर्यंच दीर्घकालोपदेशकी सज्ञा वाले है।

(४) विशिष्ट श्रुतज्ञान—यह ज्ञान इतना शुद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि जीवो के सिवाय अन्य जीवो मे यह सम्भव नही है। इस विशिष्ट विशुद्ध ज्ञा[illegible] को दृष्टिवादोपदेशकी सज्ञा कहते है।

शास्त्रो मे सज्ञी-असज्ञी के उल्लेख के प्रसग मे ओघ और हेतुवादोपदेशकी सज्ञा वालो को असज्ञी और दीर्घकालोपदेशकी और दृष्टिवादोपदेशकी सज्ञा वाले जीवो को सज्ञी कहा गया है । क्योकि सज्ञा अर्थात् मनोविज्ञान और यह मनोविज्ञान रूप सज्ञा ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है । अतएव मनोविज्ञान रूप सज्ञा जिनके होती है, वे सज्ञी कहलाते है, अन्य सज्ञी नही कहलाते है ।

दिगम्बर साहित्य मे भी सज्ञी-असज्ञी का विचार किया गया है । लेकिन उसमे कुछ अन्तर है । जैसे कि गर्भज तिर्यचो को मात्र सज्ञी न मानकर सज्ञी-असज्ञी उभय रूप माना है तथा श्वेताम्बर ग्रन्थो मे जो हेतुवादोपदेशकी, दीर्घ-कालिकी और दृष्टिवादोपदेशकी यह तीन सज्ञा के भेद माने गये है, वैसे भेद दिगम्बर ग्रन्थो मे दृष्टिगोचर नही हुए हैं । लेकिन तद्गत वर्णन से यह प्रति-भास अवश्य होता है कि सज्ञित्व व्यपदेश के लिये दीर्घकालोपदेशकी और दृष्टिवादोपदेशकी सज्ञा के आशय को ध्यान मे रखा गया है ।

३

प्रज्ञापनासूत्र एव तत्त्वार्थभाष्यगत पर्याप्ति सबधी वर्णन

'पर्याप्ति क्रियापरिसमाप्तिरात्मन'—विवक्षित आहारग्रहण, शरीर-निर्वृ त्तनादि क्रिया करने मे समर्थ करण की निष्पत्ति को पर्याप्ति कहते है। वह पुद्गल रूप है और उस-उस क्रिया की कर्त्ता आत्मा की करणविशेष है। जिस करणविशेष मे आत्मा मे आहारादि ग्रहण करने का सामर्थ्य उत्पन्न हो वह करण जिन पुद्गलो से निष्पादित हो, इस प्रकार के परिणाम वाली आत्मा के द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गल पर्याप्ति शब्द से कहे जाते हैं। जैसे कि आहार ग्रहण करने मे समर्थ करण की उत्पत्ति आहारपर्याप्ति, शरीर के करण की निष्पत्ति शरीरपर्याप्ति, इन्द्रिय के करण की उत्पत्ति इन्द्रियपर्याप्ति, उच्छ्वास और नि श्वास के योग्य करण की उत्पत्ति श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषा के करण की उत्पत्ति भाषापर्याप्ति और मन के करण की उत्पत्ति मनपर्याप्ति कही जाती है।

कहा है—

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा की उत्पत्ति जिन पुद्गलो से होती है, उनके प्रति जो करण, वह पर्याप्ति है।

कदाचित् यह कहा जाये कि सिद्धान्त मे छह पर्याप्तिया प्रसिद्ध हैं तो यहाँ पाच पर्याप्तिया ही क्यो कही गई हैं? तो इसका उत्तर यह है कि इन्द्रिय-पर्याप्ति के ग्रहण से मनपर्याप्ति का ग्रहण कर लिये जाने से पर्याप्तियो के पाच नाम कहे गये हैं।

प्रश्न—शास्त्रकार ने मन को अनिन्द्रिय कहा है तो इन्द्रियो के ग्रहण से मन का ग्रहण कैसे हो सकता है?

उत्तर—जैसे शब्दादि विषयो को ग्रहण करने वाले श्रोत्र आदि है, वैसा मन नही है और सुखादि को साक्षात ग्रहण करने वाला मन है, पर इन्द्रिय नही है। इसलिये मन सम्पूर्ण इन्द्रिय नही परन्तु इन्द्र आत्मा का लिंग होने से इन्द्रिय भी है। यहाँ जो पाच ही पर्याप्तिया कही है, वे वाह्यकरण की अपेक्षा से जानना चाहिए, मन अन्त करण है, इसलिये मनपर्याप्ति पृथक् नही कही है। इसमे किसी प्रकार का दोष नही है। दोनो प्रकार से मनपर्याप्ति सम्भव है। यहाँ तैजस् और कार्मण शरीर सहित आत्मा की ही विवक्षित क्रिया की परिसमाप्ति यानी विवक्षित क्रिया करने मे समर्थ करण की उत्पत्ति, यह पर्याप्ति है। औदारिक आदि शरीर की प्रथम उत्पत्ति की अपेक्षा ही यहाँ पर्याप्तियो का विचार किया है।

यह पर्याप्तिया एक साथ आरम्भ होकर अनुक्रम से पूर्ण होती है। क्योकि उत्तरोत्तर पर्याप्तिया अधिक-अधिक काल मे समाप्त होती हैं।

भाष्यकार के अनुसार आहारपर्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार है—

'शरीरेन्द्रिय-वाड्-मन -प्राणापानयोग्यदलिकद्रव्याहरणक्रियापरिसमाप्तिराहारपर्याप्ति ।' शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन और प्राणापान—श्वासोच्छ्वास के योग्य दलिको-पुद्गलो के आहारण-ग्रहण क्रिया की परिसमाप्ति, वह आहारपर्याप्ति करणविशेष है। 'गृहीतस्य शरीरतया सस्थापनक्रियापरिसमाप्ति, शरीरपर्याप्ति'—सामान्य रूप मे ग्रहण किये हुए पुद्गलो की शरीर रूप मे सस्थापना-रचना करने की क्रिया की परिसमाप्ति को शरीरपर्याप्ति कहते हैं।

प्रज्ञापनासूत्र के टीकाकार आचार्य ने सामान्य से पर्याप्ति की व्याख्या तो की है। किन्तु किन पुद्गलो को ग्रहण करती है, यह स्पष्ट नही किया है। लेकिन तत्त्वार्थकार ने आहारपर्याप्ति की व्याख्या मे विशेष रूप से शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करने का बताया है। प्रथम समय मे ग्रहण किये हुए और इसी प्रकार प्रति समय ग्रहण किये जाते हुए पुद्गलो मे ही जो करण की निष्पत्ति होती है वह पर्याप्तिशब्द-वाच्य है। उसमे यह भी प्रतीत होता है कि शरीर के योग्य पुद्गलो से शरीर-

पर्याप्ति, इन्द्रिय के योग्य पुद्गलो से इन्द्रियपर्याप्ति, भाषा के योग्य पुद्गलो से भाषापर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलो से श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति और मन के योग्य पुद्गलो से मनपर्याप्ति की निष्पत्ति सम्भव है।

इन्द्रियपर्याप्ति आदि के लक्षण इस प्रकार है—

'त्वगादीन्द्रिय-निर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्ति '—त्वक्-स्पर्शनेन्द्रिय और आदि शब्द से रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन। अत उनके स्वरूप को उत्पन्न करने वाली क्रिया की परिसमाप्ति इन्द्रियपर्याप्ति है।

'प्राणापानक्रियायोग्यद्रव्य ग्रहण-निसर्गशक्ति निर्वर्तनक्रियापरिसमाप्ति प्राणापानपर्याप्ति '—उच्छ्वास और नि श्वास की क्रिया के योग्य श्वासोच्छ्वास-वर्गणा के द्रव्य को ग्रहण करने और छोडने की शक्ति-सामर्थ्य को उत्पन्न करने की क्रिया की परिसमाप्ति को श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति कहते हैं। इसी प्रकार भाषापर्याप्ति का लक्षण है। वहाँ भाषायोग्य पुद्गलो के ग्रहण व छोडने की क्रिया जानना चाहिए।

'मनस्त्वयोग्यद्रव्यग्रहणनिसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिमन पर्याप्तिरित्येके'—मनरूप मे परिणमन के योग्य मनोवर्गणा के द्रव्य को ग्रहण करने और छोडने की सामर्थ्य को उत्पन्न करने की क्रिया की परिसमाप्ति वह मनपर्याप्ति है—ऐसा कोई आचार्य इन्द्रियपर्याप्ति से अलग मनपर्याप्ति मानते है और इन्द्रियपर्याप्ति के ग्रहण द्वारा मनपर्याप्ति का ग्रहण नही करते हैं। परन्तु मनपर्याप्ति को कोई मानते है और कोई नही मानते है यह नही समझना चाहिए।

'आसा युगपदारब्धानामपि कमेण समाप्ति , उत्तरोत्तरसूक्ष्मतरत्वात् सूत्रदार्वादिगतनघटनवत्'—ये छहो पर्याप्तिया युगपत् प्रारम्भ होती है, परन्तु अनुक्रम से समाप्त होती है। अनुक्रम से समाप्त होने का कारण यह है कि उत्तरोत्तर सूक्ष्म है। जैसे कि आहारपर्याप्ति से शरीरपर्याप्ति सूक्ष्म है, क्योकि वह बहुत से सूक्ष्म द्रव्यो के समूह से बनी हुई है, उससे इन्द्रियपर्याप्ति अधिक सूक्ष्म है, उससे भी श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति सूक्ष्म है, उससे भाषापर्याप्ति सूक्ष्म

है और उससे भी मनपर्याप्ति अधिक सूक्ष्म है। एतद्‌विषयक दृष्टान्त यह है—सूत कातने और काष्ठ घडने की तरह। मोटा सूत और वारीक सूत कातने वाली एक साथ कातना प्रारम्भ करती हैं लेकिन उनमे से मोटा सूत कातने वाली जल्दी पूरा कर लेती है और वारीक सूत कातने वाली लम्बे समय मे पूरा करती हैं। इसी प्रकार काष्ठ घडने मे भी यही क्रम समझना चाहिए। खभा आदि मोटी कारीगरी का काम थोडे से समय मे और यदि उसी खभे को पत्ररचना, पुतलियो आदि सहित बनाया जाये तो लम्बे काल मे तैयार होता है।

—तत्त्वार्थभाष्य ८/१२, प्रज्ञापनासूत्र

卐卐

४-५

दिगम्बर कर्मसाहित्य में जीवस्थानों मे योग-उपयोग का निर्देश

श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य मे कुछ मतभिन्नतायें हैं, लेकिन उसकी अपेक्षा समानताये अधिक है। इसका मूल कारण यही है कि दोनो का मूल स्रोत एक है। यही बात कर्मविचारणा के लिये भी समझना चाहिए। कर्म-विचारणा के प्रसग मे तो दोनो परम्परायें इतनी अधिक समानतत्रीय हैं कि समान वर्णन, समान दृष्टिकोण देखने से यह अनुभव नही होता है कि यह ग्रन्थ तो अमुक परम्परा का है और यह अमुक परम्परा का। लेकिन सक्षेप या विस्तार की अपेक्षा अवश्य ज्ञात होती है।

श्वेताम्बर कर्मसाहित्य की तरह दिगम्बर साहित्य मे भी जीवस्थानो आदि मे योगोपयोग का विचार किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से उसका बोध कराने के लिये जीवस्थानो आदि मे योग-उपयोग के विचारो का सक्षेप मे यहाँ साराश प्रस्तुत करते हैं।

(क) जीवस्थानो के योग -

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त-पर्याप्त आदि चौदह जीवस्थानो के नाम पूर्व मे बताये गये अनुसार दिगम्बर कर्मसाहित्य मे भी प्राप्त होते हैं और इनको आधार बनाकर उनमे प्राप्त योगो का निर्देश किया है। सामान्य मे जीवस्थानो मे योगो का निर्देश इस प्रकार है—

नौ जीवस्थानो मे एक योग होता है, चार जीवस्थानो मे दो योग और एक जीवस्थान मे चौदह योग होते हैं। ये योग अपने वर्तमान भव के शरीरो मे विद्यमान जीवो मे जानना चाहिए। किन्तु भवान्तरगत अर्थात् विग्रहगति वाले जीवो मे केवल एक कार्मणकाययोग होता है।

उक्त कथन का विशेषार्थ यह है कि एकेन्द्रिय के चार और शेष अपर्याप्तक जीवो के पाच जीवस्थान कुल मिलाकर नौ जीवस्थानो मे सामान्य से एक काययोग होता है। वह इस प्रकार कि सूक्ष्म और बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीवो के औदारिक काययोग तथा सूक्ष्म बादर-अपर्याप्त एकेन्द्रिय जीवो के औदारिक-मिश्र काययोग होता है। कुछ आचार्यों के अभिप्राय से बादर वायुकायिक पर्याप्तको के वैक्रिय काययोग और बादर वायुकायिक अपर्याप्तको के वैक्रिय-मिश्र काययोग भी होता है और शेष द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी-सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तो के यथायोग्य एकमात्र औदारिकमिश्र आदि काययोग होता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक इन चारो जीवस्थानो मे औदारिक काययोग और असत्यामृषावचनयोग ये दो-दो योग होते हैं।

सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थान मे चारो मनोयोग, चारो वचनयोग और सातो काययोग इस तरह पन्द्रह योग होते हैं। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय के जो अपर्याप्त दशा मे सम्भव औदारिकमिश्र, वैक्रिय-मिश्र और आहारकमिश्र और कार्मण काययोग बतलाये गये हैं सो इनमे से सयोगि जिन के केवलिसमुद्घात की अपेक्षा औदारिकमिश्र काययोग और कार्मण काययोग कहा गया है तथा जो औदारिक काययोगी जीव वैक्रिय और आहारक लब्धि प्राप्त करते हैं उनकी अपेक्षा वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र और कार्मण काययोग बतलाया गया है। अन्यथा मिश्रकाययोग अपर्याप्त दशा मे और कार्मण काययोग विग्रहगति मे ही सम्भव है।

सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के कार्मण काययोग को छोडकर शेष चौदह योग जानना चाहिये। कार्मण काययोग न मानने का कारण अपने वर्तमान भव के शरीर मे विद्यमान जीवो मे योग मानना है। यह आपेक्षिक कथन है। कार्मण काययोग भी सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान की अवस्थाविशेष मे सम्भव है। यह कथन ऊपर किया जा चुका है। अत पन्द्रह योग भी सम्भव हैं।

(ख) जीवस्थानो मे उपयोग—

एकेन्द्रियो के बादर-सूक्ष्म और इन दोनो के पर्याप्तक और अपर्याप्तक कुल चार, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय सम्बन्धी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार तथा चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तक ये तीन, इस प्रकार इन ग्यारह जीवस्थानो मे मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन ये तीन-तीन उपयोग होते है। चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक इन दो जीवस्थानो मे चक्षुदर्शन सहित पूर्वोक्त तीन उपयोग इस प्रकार चार-चार उपयोग होते है।

मिथ्यादृष्टि सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवो के उपर्युक्त (मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन) चार तथा सम्यग्दृष्टि सज्ञी अपर्याप्तको के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक—अवधिज्ञान, अवधिदर्शन ये चार उपयोग होते है। इनमे अचक्षुदर्शन मिलाने से पाच भी उपयोग होते है। कोई-कोई आचार्य मिथ्यादृष्टि-सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकार के सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तको को मिलाकर मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये सात उपयोग मानते हैं।

सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थान मे बारह उपयोग होते हैं। यह कथन सामान्य से समझना चाहिये। लेकिन विशेषापेक्षा छद्मस्थ और अछद्मस्थ जीवो का भेद किया जाय तो छद्मस्थ जीवो मे केवलद्विक के बिना दस उपयोग और अछद्मस्थ जीवो के सिर्फ केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होंगे।

६

सामायिक आदि पांच चारित्रो का परिचय

सयम और चारित्र ये दोनो समानार्थक शब्द है। सयम अर्थात् त्याग—सम्यक् प्रकार से विरमण, श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक सर्वथा पापव्यापार का त्याग करना सयम अथवा चारित्र कहलाता है। वह पाच प्रकार का है—

(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र, (३) परिहारविशुद्धि चारित्र, (४) सूक्ष्मसम्पराय चारित्र, (५) यथाख्यात चारित्र।

इन पाचो चारित्र भेदो का सक्षेप मे परिचय इस प्रकार है—

सामायिक - सम आय अर्थात रागद्वेष की रहितता के द्वारा आत्मस्वरूप मे प्रवृत्ति करना, विभावदशा से स्वभाव मे आना—अन्तर्मुखी दृष्टि का होना। अतएव समाय के द्वारा, रागद्वेष की रहितता द्वारा हुआ अथवा समाय होने पर होने वाला चारित्र सामायिक चारित्र है। अथवा सम् यानि सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आय अर्थात् लाभ को समाय कहते हैं और उसी का नाम सामायिक है। जितने-जितने अश मे आत्मा को सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र प्राप्त हो जाता है, वह सामायिक है। वह सामायिक चारित्र सर्वथा पापव्यापार के त्याग रूप है।

इस सामायिक मे उपलक्षण से साधुओ की अन्य क्रियाओ का भी समावेश हो जाता है। क्योंकि साधुओ की सभी क्रियायें रागद्वेष का अभाव करने रूप हैं और ये सभी क्रियायें रागद्वेष के अभाव मे कारण होने से कारण मे कार्य का आरोप करके साधुओं की समस्त क्रियाओ को ही रागद्वेष के अभाव रूप जानना चाहिए।

यद्यपि सभी चारित्र सर्वथा पापव्यापार का त्याग करने मे कारण होने से

सामायिक रूप ही है फिर भी पूर्वपर्याय के छेदादि रूप विशेष के कारण छेदो-पस्थापनीय आदि चारित्र पहले सामायिक चारित्र के शब्द और अर्थ की अपेक्षा पृथक् हो जाते है और पहले मे पूर्वपर्याय का छेद आदि किसी भी प्रकार का विशेष नही होने से सामायिक ऐसा सामान्य नाम ही रहता है ।

सामायिक के दो भेद है—(१) इत्वर और (२) यावत्कथित । इनमे से भरत और ऐरवत क्षेत्र मे आदि और अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ मे जिसे पच-महाव्रतो का उच्चारण नही कराया गया है, ऐसे नवदीक्षित शिष्य के अल्प-काल के लिये होने वाले चारित्र को इत्वर सामायिक और दीक्षा स्वीकार करने के काल से लेकर मरण पर्यन्त के चारित्र को यावत्कथित कहते है । यह भरत और ऐरवत क्षेत्र के आदि और अन्तिम को छोडकर मध्य के बाईस तीर्थंकरो के तीर्थ मे एव महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरो के तीर्थ मे विद्यमान साधुओ का समझना चाहिये । इसका कारण यह है कि उनके चारित्र की उत्थापना नही होती है । अर्थात् उनको बडी दीक्षा नही दी जाती है । प्रारम्भ से ही उनको चार महाव्रत स्वीकार कराये जाते है और जीवनपर्यन्त वे उनका निरतिचार पालन करते है ।

छेदोपस्थापनीय—जिस चारित्र मे पूर्वपर्याय का छेद और महाव्रतो का स्थापन किया जाता है, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं । गुरु जब छोटी दीक्षा देते हैं तब मात्र 'करेमि भंते' का उच्चारण कराते हैं और उसके बाद योगोद्वहन करने के बाद बडी दीक्षा देते है और उस समय पाच महाव्रतो का उच्चारण कराते हैं । जिस दिन बडी दीक्षा दी जाती है, उस दिन से दीक्षा-वर्ष की शुरुआत होती है और पूर्व की दीक्षापर्याय कम कर दी जाती है । यह बडी दीक्षा छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाती है ।

छेदोपस्थापनीय चारित्र के दो भेद हैं—(१) सातिचार और (२) निरति-चार । इनमे से इत्वर सामायिक वाले नवदीक्षित शिष्य को जो पाच महाव्रतो का आरोपण होता है—बडी दीक्षा दी जाती है, वह अथवा एक तीर्थंकर के तीर्थ मे से दूसरे तीर्थंकर के तीर्थ मे आने पर ग्रहण किया जाता है, जैसे कि भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थ मे से वर्धमान स्वामी के तीर्थ मे आते हुए साधु

चार महाव्रत छोडकर पाच महाव्रत स्वीकार करते है, वह निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाता है तथा मूलगुणो का घात करने वाले साधु को पुन जो व्रतो का उच्चारण कराया जाता है, उसे सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।

छेदोपस्थापनीय चारित्र के ये दोनो प्रकार स्थितकल्प मे होते हैं। जिस तीर्थंकर के तीर्थ मे चातुर्मास और प्रतिक्रमणादि आचार निश्चित रूप मे हो ऐसे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थकल्प को स्थितकल्प कहते हैं।

परिहारविशुद्धि चारित्र—परिहार अर्थात् तपोविशेष। जिस तपोविशेष के द्वारा चारित्र का आचरण करने वाले के कर्म की शुद्धि हो, उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते है। उसके दो भेद हैं—(१) निर्विशमानक और (२) निर्विष्टकायिक। विवक्षित चारित्र की तपस्या के द्वारा आराधना करने वाले निर्विशमानक और उसकी आराधना करने वालो के परिचारक निर्विष्टकायिक कहलाते है।

यह परिहारविशुद्धि चारित्र पालक और परिचारक के बिना आराधित नही किये जा सकने के कारण उपर्युक्त नामो से जाना जाता है।

इस चारित्र को ग्रहण करने वालो का नौ-नौ का समूह होता है। उनमे से चार तपस्यादि करने के द्वारा पालन करने वाले होते हैं, चार परिचारक वैयावृत्य करने वाले और एक वाचनाचार्य होता है।

यद्यपि इस चारित्र को धारण करने वालो के श्रुतातिशय सम्पन्न होने पर भी उनका आचार होने से एक वाचनाचार्य के रूप मे स्थापित किया जाता है।

निर्विशमानक की तपस्या का क्रम इस प्रकार है—

तपस्या करने वाले ग्रीष्मकाल मे जघन्य एक, मध्यम दो और उत्कृष्ट तीन उपवास, शीत ऋतुकाल मे जघन्य दो, मध्यम तीन और उत्कृष्ट चार उपवास और वर्षाकाल मे जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पाच उपवास करते है और पारणे के दिन अभिग्रह सहित आयबिल व्रत (जिसमे विगय—घी, दूध आदि रस छोडकर दिन मे केवल एक बार अन्न खाया जाता है तथा प्रासुक पानी पिया जाता है) करते हैं।

भिक्षा के ससृष्ट, असमृष्ट, उद्‌धृत, अल्पलेपिका, अवगृहीत, प्रगृहीत और उज्झित-धर्म इन सात प्रकारो मे से आदि के दो प्रकार से गच्छनिर्गत साधु के आहार का ग्रहण नही होने से शेष पाच प्रकार से भिक्षा को ग्रहण किया जाता है और इन पाच मे से भी एक के द्वारा आहार और एक के द्वारा जल इस तरह दो प्रकारो मे अभिग्रह धारण किया जाता है।

इस प्रकार छह मास तक तपस्या का क्रम चलता रहता है। वाचनाचार्य और परिचारक सदा आयम्बिल करते है।

छह मास पर्यन्त तप करने वाले निर्विशमानक परिचारक होते हैं और परिचारक तपस्या करते है। अर्थात् अभी तक जो मुनि वैयावृत्य कर रहे थे, वे पूर्वोक्त विधि के अनुसार तपस्या करते है और तपस्या करने वाले परिचारक, वैयावृत्य करने वाले होते हैं। ये परिचारक और वाचनाचार्य आयम्बिल करते हैं।

इस प्रकार से छह मास पर्यन्त पूर्व के परिचारको के द्वारा तपस्या सम्पन्न हो जाने के अनन्तर वाचनाचार्य पूर्वोक्त प्रमाण छह मास पर्यन्त तपस्या करते है तथा आठ मे से एक वाचनाचार्य तथा शेष सात परिचारक—वैयावृत्य करने वाले होते है।

इस प्रकार इस परिहारविशुद्धि चारित्र की आराधना अठारह मास मे पूर्ण होती है। इन अठारह मासो मे से प्रत्येक तपस्वी एक वर्ष के आयम्बिल और छह मास के उपवासो के अन्तराल मे आयम्बिल करते हैं।

इस अठारह मास प्रमाण कल्प के पूर्ण होने पर आराधक पुन इसी परिहारविशुद्धि कल्प को या जिनकल्प को स्वीकार करते हैं अथवा गच्छ मे लौट जाते हैं।

इस चारित्र को तीर्थंकर से अथवा पूर्व मे तीर्थंकर से स्वीकार करके आराधना करने वालो से ही ग्रहण किया जाता है, अन्य से नही।

इस चारित्र के अधिकारी बनने के लिये गृहस्थ पर्याय (उम्र) का जघन्य प्रमाण २९ वर्ष तथा साधु पर्याय (दीक्षाकाल) का जघन्य प्रमाण २० वर्ष तथा दोनों का उत्कृष्ट प्रमाण कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष माना है।

इस सयम के अधिकारी को साढे नौ पूर्व का ज्ञान होता है तथा इस सयम के धारक मुनि दिन के तीसरे प्रहर मे भिक्षा और विहार कर सकते हैं तथा शेष समय मे ध्यान, कायोत्सर्ग आदि करते हैं।

दिगम्बर साहित्य मे इसके बारे मे कुछ मतभेद है कि जन्म से लेकर तीस वर्ष तक गृहस्थ पर्याय मे रहने के बाद दीक्षा ग्रहण कर तीर्थंकर के पादमूल मे आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व का अध्ययन करने वाले इस सयम को धारण कर सकते हैं। इस सयम के धारक तीन सध्या कालो को छोडकर प्रतिदिन दो कोस गमन कर सकते है। तीर्थंकर के अतिरिक्त अन्य किसी के पास से इस सयम को ग्रहण नही किया जा सकता है।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र—किट्टिरूप किये गये सूक्ष्म लोभकषाय का उदय जिसके अन्दर हो, उसे सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहते हैं। यह चारित्र दसवें गुणस्थान मे होता है तथा किट्टिरूप की गई लोभकषाय के अवशिष्ट भाग का यहाँ उदय होता है।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र के दो भेद हैं—विशुद्धयमानक और सक्लिश्यमानक। क्षपकश्रेणि अथवा उपशमश्रेणि पर आरोहण करने पर विशुद्धयमानक होता है। क्योकि उस समय प्रवर्धमान विशुद्धि वाले परिणाम होते हैं और उपशमश्रेणि से गिरते समय सक्लिश्यमानक होता है। क्योकि इस समय मे पतनोन्मुखी परिणाम होते हैं।

यथाख्यात चारित्र—सर्वजीवलोक मे अकषाय चारित्र प्रसिद्ध है। उस प्रकार का जो चारित्र हो उसे यथाख्यात चारित्र कहते है। यथाख्यात चारित्र का अथाख्यात यह अपर नाम है। जिसका निरुक्तिपूर्वक अर्थ इस प्रकार है—अथ अर्थात् यथार्थ और आङ् यानी अभिविधि—मर्यादा। अतएव इस प्रकार का अकषाय रूप जो चारित्र हो वह यथाख्यात चारित्र है। इन दोनो का समान अर्थ यह हुआ कि कषायोदय से रहित चारित्र को अथाख्यात—यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

यथाख्यात चारित्र के दो भेद है—(१) छाद्मस्थिक और (२) कैवलिक।

इस सयम के अधिकारी को साढे नौ पूर्व का ज्ञान होता है तथा इस सयम के धारक मुनि दिन के तीसरे प्रहर मे भिक्षा और विहार कर सकते हैं तथा शेष समय मे ध्यान, कायोत्सर्ग आदि करते हैं।

दिगम्बर साहित्य मे इसके बारे मे कुछ मतभेद है कि जन्म से लेकर तीस वर्ष तक गृहस्थ पर्याय मे रहने के बाद दीक्षा ग्रहण कर तीर्थंकर के पादमूल मे आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व का अध्ययन करने वाले इस सयम को धारण कर सकते हैं। इस सयम के धारक तीन सध्या कालो को छोडकर प्रतिदिन दो कोस गमन कर सकते है। तीर्थंकर के अतिरिक्त अन्य किसी के पास से इस सयम को ग्रहण नही किया जा सकता है।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र— किट्टिरूप किये गये सूक्ष्म लोभकषाय का उदय जिसके अन्दर हो, उसे सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहते हैं। यह चारित्र दसवें गुण-स्थान मे होता है तथा किट्टिरूप की गई लोभकषाय के अवशिष्ट भाग का यहाँ उदय होता है।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र के दो भेद हैं—विशुद्धयमानक और सक्लिश्य-मानक। क्षपकश्रेणि अथवा उपशमश्रेणि पर आरोहण करने पर विशुद्धयमानक होता है। क्योंकि उस समय प्रवर्धमान विशुद्धि वाले परिणाम होते हैं और उपशमश्रेणि से गिरते समय सक्लिश्यमानक होता है। क्योंकि इस समय मे पतनोन्मुखी परिणाम होते हैं।

यथाख्यात चारित्र—सर्वजीवलोक मे अकषाय चारित्र प्रसिद्ध है। उस प्रकार का जो चारित्र हो उसे यथाख्यात चारित्र कहते है। यथाख्यात चारित्र का अथाख्यात यह अपर नाम है। जिसका निरुक्तिपूर्वक अर्थ इस प्रकार है—अथ अर्थात् यथार्थ और आङ् यानी अभिविधि—मर्यादा। अतएव इस प्रकार का अकषाय रूप जो चारित्र हो वह यथाख्यात चारित्र है। इन दोनो का समान अर्थ यह हुआ कि कषायोदय से रहित चारित्र को अथाख्यात—यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

यथाख्यात चारित्र के दो भेद हैं—(१) छाद्मस्थिक और (२) कैवलिक।

७

औपशमिक सम्यक्त्व-प्राप्ति विषयक प्रक्रिया का सारांश

अनन्तानुबंधि क्रोधादि कषायचतुष्क और दर्शन-मोहत्रिक (सम्यक्त्व मोहनीय, सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय—मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय), इन सात प्रकृतियो के उपशम होने पर जीव की जो तत्त्वरुचि होती है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है। इस स्थिति मे मिथ्यात्व प्रेरक कर्मदलिक सत्ता मे रहकर भी भस्माच्छादित अग्नि की तरह कुछ समय तक उपशात रहते हैं, किन्तु साधन मिलने पर पुन अपना रूप प्रकट कर देते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के दो भेद हैं—ग्रथिभेदजन्य और उपशमश्रेणिभावी। ग्रथिभेदजन्य को प्रथमोपशम और उपशमश्रेणिभावी को द्वितीयोपशम सम्यक्त्व भी कहते हैं।

ग्रथिभेदजन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव को प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति सुदुर्लभ है। तत्सम्बन्धी प्रक्रिया इस प्रकार है—

अगाध गम्भीर ससार समुद्र के मध्य मे वर्तमान जीव मिथ्यादर्शन मोहनीयादि हेतु से अनाम पुद्गल-परावर्तन पर्यन्त अनेक प्रकार से शारीरिक और मानसिक दु खो का अनुभव कर अत्यन्त कठिनाई से यत्किंचित् तथाभव्य-स्वभाव का परिपाक होने के कारण पर्वतीय नदी के पत्थर के गोल, चौकोर आदि होने के न्याय से कि जैसे पर्वत की नदी का पत्थर टकराते-टकराते, घिसटते-घिसटते अपने आप गोल, चौरस आदि हो जाता है, उसी प्रकार अनाभोगिक-उपयोग बिना के शुभ परिणाम रूप यथाप्रवृत्तिकरण के द्वारा जिसका पूर्व मे भेद नही किया, ऐसी कर्मपरिणामजन्य तीव्र रागद्वेष परिणाम रूप ककश, गाढ और सुदीर्घकाल से रूढ गुप्त गाठ जैसी ग्रथिदेश को प्राप्त करता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति और अन्तरकरण से ऊपर की द्वितीय स्थिति। अन्तरकरण मे के मिथ्यात्व के पुद्गलो को प्रथम और द्वितीय स्थिति मे प्रक्षेप करके दूर किया जाता है और उतना वह स्थान मिथ्यात्व के पुद्गलो से पूर्ण-रूपेण रहित होता है। अब जब तक आत्मा प्रथम स्थिति का अनुभव करती है, वहाँ तक मिथ्यादृष्टि कहलाती है और उस प्रथम स्थिति के पूर्ण हो जाने पर अन्तरकरण—शुद्ध भूमि मे प्रवेश करने से मिथ्यात्व का रस या प्रदेश द्वारा उदय नही होने से उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करती है।

अनिवृत्तिकरण विषयक उक्त समग्र कथन का साराश यह है कि अनिवृत्ति-करण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उस स्थिति का एक भाग शेष रहने पर अन्तरकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है। इस क्रिया के द्वारा अनिवृत्तिकरण के अन्त समय मे मिथ्यात्वमोहनीय के दलिको को आगे-पीछे कर दिया जाता है। कुछ दलिको को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय मे आने योग्य कर्म-दलिको के साथ और कुछ को अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय मे आने वाले कर्मदलिको के साथ कर दिया जाता है कि जिससे मिथ्यात्वमोहनीय का कोई दलिक नही रहता है। इस कारण जिसका अबाधाकाल पूर्ण हो चुका है ऐसे मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के दो विभाग हो जाते है। एक विभाग वह कि जो अनिवृत्ति-करण के चरम समय पर्यन्त उदय मे रहता है और दूसरा वह जो अनिवृत्ति-करण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त बीतने पर उदय मे आता है। इनमे से पहले विभाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे विभाग को द्वितीय स्थिति कहते हैं। अन्तरकरण क्रिया के शुरू होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त तक तो मिथ्यात्व का उदय रहता है, उसके बाद नही रहता है। क्योकि उस समय जिन दलिको के उदय की सम्भावना है, वे सब दलिक अन्तरक्रिया के द्वारा आगे और पीछे उदय मे आने योग्य कर दिये जाते है और अनिवृ[illegible] ग काल के बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

इस औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर जीव को स[illegible]
प्रतीति होने लगती है। क्योकि उस समय मिथ्[illegible] तृनी।
प्रदेश दोनो प्रकार मे उदय नही होता है। इस [illegible] जीव [illegible]

८

दिगम्बर कार्मग्रन्थिकों का मार्गणास्थानों मे योग कथन

मार्गणा के बासठ भेदो मे योगो को इस प्रकार बतलाया है—

गतिमार्गणा की अपेक्षा नारक और देवो मे औदारिकद्विक – औदारिक और औदारिकमिश्र काययोग तथा आहारकद्विक—आहारक और आहारकमिश्र काययोग इन चार योगो को छोडकर शेष ग्यारह योग होते है। तिर्यंचो मे वैक्रिय, वैक्रियमिश्र काययोग, आहारक और आहारकमिश्र काययोग इन चार योगो को छोडकर शेष ग्यारह योग तथा मनुष्यो के वैक्रियद्विक को छोडकर शेष तेरह योग होते है।

इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा एकेन्द्रियो मे कार्मण काययोग और औदारिक द्विक ये तीन योग होते हैं। विकलेन्द्रिय मे उपर्युक्त तीन योग तथा अन्तिम वचनयोग अर्थात् असत्यामृपा वचनयोग सहित चार योग तथा पचेन्द्रियो मे सर्व योग होते है।

कायमार्गणा मे पृथ्वी आदि पाचो स्थावरकायिको मे कार्मण काययोग और औदारिकद्विक ये तीन योग तथा त्रसकायिको मे सभी योग होते हैं।

योगमार्गणा की अपेक्षा स्व-स्व योग वाले जीवो के स्व-स्व योग होते हैं। अर्थात् सत्यमनोयोगियो के सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोगियो के असत्य-मनोयोग इत्यादि।

वेदमार्गणा की अपेक्षा पुरुषवेदियो के सभी योग होते है तथा स्त्रीवेदी और नपु सकवेदी जीवो के आहारकद्विक को छोडकर शेप तेरह योग होते है।

कषायमार्गणा की अपेक्षा क्रोधादि चारो कषाय वाले जीवो मे सभी योग पाये जाते हैं।

ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा मति, श्रुत और अवधिज्ञानी जीवो के सभी पन्द्रह योग होते हैं। मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी जीवो मे आहारकद्विक को छोडकर शेष तेरह योग तथा विभगज्ञानी जीवो के अपर्याप्तकाल सम्बन्धी औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण काययोग तथा आहारकद्विक इन पाच योगो को छोड-कर शेष दस योग होते हैं। केवलद्विक अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन वाले जीवो के सत्यमनोयोग, असत्यामृपामनोयोग, सत्यवचनयोग, असत्यामृपावचन-योग, औदारिकद्विक और कार्मण काययोग ये सात योग होते है।

मनपर्यायज्ञान तथा सयम मार्गणा के भेद सूक्ष्मसम्परायसयम, परिहार-विशुद्धिसयम और सयमासयम (देशविरति) वाले जीवो के मनोयोगचतुष्क, वचनयोगचतुष्क और औदारिककाययोग ये नौ योग होते हैं।

सयममार्गणा की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना सयम वाले जीवो के चारो मनोयोग, चारो वचनयोग, आहारकद्विक और औदारिक काययोग ये ग्यारह योग तथा यथाख्यातसयम वाले जीवो के चारो मनोयोग चारो वचन योग, औदारिकद्विक और कार्मण काययोग ये ग्यारह योग और असयमी जीवो के आहारकद्विक को छोडकर शेष तेरह योग होते हैं।

लेश्यामार्गणा की अपेक्षा कृष्णादि तीन लेश्या वालो के आहारकद्विक को छोडकर शेष तेरह योग होते है। तेजोलेश्या आदि तीन लेश्या वालो के सभी पन्द्रह योग पाये जाते है।

दर्शनमार्गणा की अपेक्षा चक्षुदर्शन वाले जीवो मे अपर्याप्त काल सम्बन्धी तीनो मिश्रयोगो (औदारिकमिश्र वैक्रियमिश्र, कार्मण) को छोडकर शेष बारह योग पाये जाते है। अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन वाले जीवो मे सभी योग होते है।

भव्यमार्गणा की अपेक्षा अभव्य जीवो के आहारकद्विक को छोडकर शेष तेरह योग तथा भव्य जीवो के सभी योग होते हैं।

सम्यक्त्वमार्गणा की अपेक्षा उपशमसम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि जीवो के आहारकद्विक को छोडकर शेष तेरह योग जानना चाहिये

वेदक—क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवो के सभी योग और मिश्र अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि वाले जीवो मे अपर्याप्त कालसम्बन्धी मिश्रत्रिक और आहारकद्विक को छोडकर शेष दस योग पाये जाते हैं ।

सज्ञीमार्गणा की अपेक्षा सज्ञी जीवो के सभी योग और असज्ञी जीवो मे कार्मणकाययोग, औदारिकद्विक और अन्तिम वचनयोग (असत्यामृषावचनयोग) ये चार योग होते हैं ।

आहारमार्गणा की अपेक्षा आहारक जीवो मे कार्मणकाययोग को छोडकर शेष चौदह योग पाये जाते हैं और अनाहारक जीवो मे मात्र कार्मणकाययोग ही पाया जाता है ।

१

दिगम्बर कर्मसाहित्य मे मार्गणास्थानो मे उपयोग-विचार

मतिज्ञान आदि उपयोग के बारह भेद गति आदि के क्रम से प्रत्येक मार्गणा के अवान्तर भेदो मे इस प्रकार है—

गतिमार्गणा की अपेक्षा नरक, तिर्यंच और देव गति मे केवलद्विक और मनपर्याय ज्ञान इन तीन को छोडकर शेष नौ उपयोग होते है। मनुष्यगति मे सभी बारह उपयोग पाये जाते है।

इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवो मे अचक्षुदर्शन और मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान ये तीन तथा चतुरिन्द्रिय जीवो मे चक्षुदर्शन सहित उक्त तीनो उपयोग, इस तरह कुल चार उपयोग पाये जाते है। पचेन्द्रिय जीवो मे सभी उपयोग होते ह। लेकिन इतना विशेष है कि जिन भगवान मे उपचार से पचेन्द्रियत्व माना है, इस अपेक्षा मे बारह उपयोग अन्यथा केवलद्विक को छोडकर शेष दस उपयोग जानना चाहिये।

कायमार्गणा की अपेक्षा पृथ्वी आदि पाचो स्थावर कायो मे अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान ये तीन उपयोग तथा त्रसकाय मे सभी उपयोग पाये जाते है।

योगमार्गणा की अपेक्षा प्रथम और अन्तिम मनोयोग और वचनयोग और औदारिक काययोग मे सभी उपयोग होते है। मध्य के दो मनोयोग (असत्य, सत्यासत्य) और दो वचनयोग (असत्य, सत्यासत्य) मे केवलद्विक को छोडकर शेष दस उपयोग तथा औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मणक ययोग मे मनपर्यायज्ञान, विभगज्ञान और चक्षुदर्शन इन तीन को छोडकर शेष नौ उपयोग

होते है। वैक्रियकाययोग मे मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक को छोडकर शेष नौ उपयोग पाये जाते है। वैक्रियमिश्रकाययोग मे केवलद्विक, मनपर्यायज्ञान, विभगज्ञान और चक्षुदर्शन इन पाच को छोडकर शेष सात उपयोग होते हैं। आहारक और आहारकमिश्र काययोग मे केवलद्विक मनपर्यायज्ञान और अज्ञान-त्रिक इन छह उपयोगो को छोडकर शेष छह उपयोग होते हैं।

वेदमार्गणा की अपेक्षा पुरुषवेद मे केवलद्विक को छोडकर शेष दस उपयोग, स्त्रीवेद और नपु सक वेद मे केवलद्विक और मनपर्यायज्ञान इन तीन को छोड-कर शेष नौ उपयोग होते हैं।

कषायमार्गणा की अपेक्षा क्रोधादि चारो कषायो मे केवलद्विक को छोडकर शेष दस उपयोग जानना चाहिये।

ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा तीनो अज्ञानो मे मति-अज्ञान आदि अज्ञानत्रिक और चक्षुदर्शन व अचक्षुदर्शन ये पाच उपयोग होते है। मति आदि प्रथम चार सम्यग्ज्ञानो मे अज्ञानत्रिक और केवलद्विक के बिना शेष सात उपयोग होते है। केवलज्ञान मे केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग जानना चाहिये।

सयममार्गणा की अपेक्षा सामायिक, छेदोपस्थापना और सूक्ष्मसम्पराय सयम मे अज्ञानत्रिक और केवलद्विक के बिना शेष सात उपयोग, परिहारविशुद्धि-सयम और देशविरतसयम मे आदि के तीन दर्शन और तीन सद्ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि ज्ञान इस प्रकार छह उपयोग होते है। यथाख्यातसयम मे पाचो सद्ज्ञान और चारो दर्शन इस प्रकार नौ उपयोग होते हैं। असयम मे मनपर्याय-ज्ञान और केवलद्विक के बिना शेष नौ उपयोग होते हैं।

दर्शनमार्गणा की अपेक्षा आदि के दो दर्शनों मे केवलद्विक के बिना शेष दस उपयोग होते हैं। अवधिदर्शन मे केवलद्विक और अज्ञानत्रिक के बिना शेष सात उपयोग और केवलदर्शन मे केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं।

लेश्यामार्गणा की अपेक्षा कृष्णादि तीनो अशुभ लेश्याओ मे मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक के बिना शेष नौ, तेजोलेश्या और पद्मलेश्या मे केवलद्विक के बिना शेष दस और शुक्ललेश्या मे सभी बारह उपयोग जानना चाहिये।

भव्यमार्गणा की अपेक्षा भव्य जीवो मे केवलद्विक के बिना शेष दस उपयोग और अभव्य जीवो के अज्ञानत्रिक और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन यह पाच उपयोग पाये जाते है।

सम्यक्त्वमार्गणा की अपेक्षा मिथ्यात्व और सासादन सम्यक्त्व मे मति-अज्ञान आदि अज्ञानत्रिक तथा चक्षुदर्शन व अचक्षुदर्शन ये पाच उपयोग पाये जाते हैं। औपशमिकसम्यक्त्व मे आदि के तीन दर्शन और तीन सद्ज्ञान ये छह उपयोग होते है। सम्यग्मिथ्यात्व मे यह छह मिश्रित उपयोग होते है। क्षायिकसम्यक्त्व मे अज्ञानत्रिक के बिना शेष नौ उपयोग तथा वेदकसम्यक्त्व मे केवलद्विक और अज्ञानत्रिक के बिना शेष सात उपयोग पाये जाते है।

सज्ञीमार्गणा की अपेक्षा सज्ञी जीवो मे केवलद्विक के बिना शेष दस उपयोग होते हैं। क्योकि सयोगि अयोगि केवलियो के तो नोइन्द्रियजन्य ज्ञान का अभाव होने से सज्ञी, असज्ञी व्यपदेश नही होता हे। इसलिये सज्ञी जीवो मे केवलद्विक उपयोग नही माने जाते है। असज्ञी जीवो मे मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन ये चार उपयोग होते ह।

आहारमार्गणा की अपेक्षा आहारक जीवो मे सभी बारह उपयोग तथा अनाहारक जीवो मे विभगज्ञान, मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन के बिना शेष नौ उपयोग होते है।

इस प्रकार से मार्गणाओ मे उपयोगो का विचार जानना चाहिये।

१०

अपूर्वकरणगुणस्थान मे उत्तरोत्तर अपूर्व स्थितिबध एव अध्यवसाय-वृद्धि का विवेचन

पूर्व मे नही हुए अथवा अन्य गुणस्थानो के साथ तुलना न की जा सके ऐसे स्थितिघात आदि कार्य और परिणाम जिस गुणस्थान मे होते ह, उसे अपूर्व-करणगुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसक्रमण और अपूर्वस्थितिबध—ये पाच कार्य होते है। ये कार्य इससे पूर्व के गुणस्थानो मे नही होते हैं और इन सबके कारण है—आध्यात्मिक अध्यवसाय। अध्यवसायो की अपूर्व शुद्धि होने पर ये स्थितिघात आदि कार्य होते हैं। जिन पर सक्षेप मे प्रकाश डालते हैं।

कर्मो की दीर्घ स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटाकर अल्प करने को स्थितिघात कहते हैं और इसी प्रकार अशुभ प्रकृतियो के तीव्र रस को अप-वर्तनाकरण द्वारा घटाकर कम कर देना रसघात है। इसका कारण है—पूर्व की अपेक्षा यहा बादर कषायो का सर्वथा अभाव हो जाना। क्योकि स्थितिबध और अनुभागबध की कारण कषाय हैं और कषायो की मदता के कारण इस गुणस्थान मे अशुभ प्रकृतियो के स्थिति और अनुभाग बध मे अल्पता आते जाने से उनका घात होना अवश्यभावी है।

सत्ता मे रहे हुए कर्मदलिको का क्षय करने के लिये विशुद्ध अध्यवसायो के द्वारा उत्तरोत्तर उदय समय मे उन कर्मदलिको की पूर्व की अपेक्षा गुणाकार रूप मे ऐसी रचना की जाती है कि आगे के समय मे अधिक दलिको का क्षय हो यह गुणश्रेणि का आशय है। इसी प्रकार सत्ता मे रहे हुए अवध्यमान

अशुभ प्रकृतियो के दलिकों को बध्यमान शुभ प्रकृतियो मे पूर्व पूर्व समय की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय मे असख्यात-गुणवृद्धि से सक्रात करना गुणसक्रम कहलाता है।

अशुभ प्रकृतियो की वैसी अवस्था हो जाने पर भी अभी पूर्ण निष्कर्म अवस्था प्राप्त नही होती है। अनेक अशुभ प्रकृतियो का बधविच्छेद होने पर भी शुभ प्रकृतियो का बध होता है। लेकिन पूर्व मे अशुद्ध परिणामो के होने से जिन कर्मो की दीर्घस्थिति बधती थी उनकी इस गुणस्थान मे तीव्र विशुद्धि होने मे अल्प-अल्प स्थिति बधने लगती है और वह भी पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर पल्योपम का असख्यातवा भागहीन बधती है। इस प्रकार का स्थितिबध होने के कारण अध्यवसाय है। अतएव यहाँ अपूर्व स्थितिबध एव अध्यवसायो की वृद्धि के सम्बन्ध मे विचार करते हैं।

अपूर्व स्थितिबध होने का क्रम अपूर्वकरणगुणस्थान के प्रथम समय मे प्रारम्भ हो जाता है। पहले समय मे जो स्थितिबध होता है, उससे अनुक्रम से घटते-घटते उसके बाद का स्थितिबध पल्योपम के असख्यातवे भागहीन होता है। इस प्रकार प्रत्येक स्थितिबध बदलता है।

इस गुणस्थान मे त्रिकालवर्ती अनेक जीवो की अपेक्षा समय-समय असख्य लोकाकाश प्रदेशप्रमाण अध्यवसायस्थान होते है और वे पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर बढते हुए होते है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

जिन्होने भूतकाल मे इस गुणस्थान के प्रथम समय को प्राप्त किया था, वर्तमान मे प्राप्त करते है और भविष्य मे प्राप्त करेगे, उन सभी जीवो की अपेक्षा जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त अनुक्रम से प्रवर्धमान असख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण अध्यवसायस्थान होते है। क्योंकि एक साथ इस गुणस्थान पर चढे हुए प्रथम समयवर्ती कितने ही जीवो के अध्यवसायो मे तरतमता सम्भव है और तरतमता की यह सख्या केवलज्ञानी भगवतो ने इतनी ही देखी है। अतएव यह नही कहा जा सकता है कि इस गुणस्थान के प्रथम समय को प्राप्त करने वाले त्रिकालवर्ती जीव अनन्त होने से तथा परस्पर अध्यवसायो का तारतम्य

होने से अध्यवसाय असख्यात क्यो होते है। क्योकि प्राय समान अध्यवसाय वाले होने से जीवो की सख्या अनन्त होने पर भी अध्यवसायो की सख्या तो असख्य लोकाकाश प्रदेशप्रमाण ही है तथा प्रथम समय मे जिस स्वरूप वाले और जितने अध्यवसाय होते है उनसे द्वितीय समय मे अन्य और सख्या मे अधिक अध्यवसाय होते है। दूसरे समय मे जो अध्यवसाय होते है, उनसे अन्य और अधिक तीसरे सम य मे होते है। इसी प्रकार अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त समझना चाहिये।

इस गुणस्थान मे पूर्व-पूर्व समय मे उत्तर-उत्तर के ममय मे अध्यवसायो की वृद्धि मे जीवस्वभाव ही कारण है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव प्रत्येक समय क्षयोपशम की विचित्रता के कारण विशुद्धि की प्रकर्षता से स्वभाव से ही भिन्न-भिन्न अध्यवसायो मे रहते हैं, जिससे पहले समय मे साथ चढे हुए जीवो मे जो अध्यवमायो की भिन्नता है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय मे अधिक भिन्नता ज्ञात होती है। इस गुणस्थान के प्रथम समय के जघन्य अध्यवसाय से प्रथम समय का उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध है। यहाँ जघन्य अध्यवसाय इस गुणस्थान की अपेक्षा समझना चाहिये। क्योकि अप्रमत्तसयत-गुणस्थान के उत्कृष्ट अध्यवसाय से इस गुणस्थान का जघन्य अध्यवसाय भी अनन्तगुण विशुद्ध होता है। पहले समय के अध्यवसाय से दूसरे समय के अध्यवमाय अलग हैं। पहले समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय से दूसरे समय का जघन्य अध्यवसाय तभी अनन्तगुण हो सकता है जब पहले समय के अध्यवसायो मे दूसरे ममय के अध्यवसाय अलग ही हो। उससे उसी समय का उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध है—इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये कि द्विचरम समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय से चरम समय का जघन्य अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध है। उससे उसी चरम समय का उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध है।

इस प्रकार एक ही समय के अध्यवमाय भी परस्पर अनन्तभागवृद्ध, असख्यातभागवृद्ध, सख्यातभागवृद्ध, सख्यातगुणवृद्ध, असख्यातगुणवृद्ध और अनन्तगुणवृद्ध—इस तरह छह स्थान युक्त होते है। जिसका अर्थ यह है कि

विशुद्धि की अपेक्षा जघन्य अध्यवसाय में कितने ही अध्यवसाय अनन्तभागवृद्ध अधिक विशुद्ध, कितने ही असख्यातभाग अधिक विशुद्ध, कितने ही सख्यात-भाग अधिक विशुद्ध, इसी प्रकार कितने ही सख्यातगुण, असख्यातगुण और अनन्तगुण अधिक विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार इस गुणस्थान मे किसी भी समय में वर्तमान अध्यवसाय षट्स्थानपतित होते हैं।

इस गुणस्थान मे एक साथ चढे हुए जीवो के अध्यवसायो मे इस प्रकार की परस्पर विशुद्धि का तारतम्य होने से अपूर्वकरणगुणस्थान का अपर नाम निवृत्ति अथवा निवृत्तिकरण भी है।

● ●

११

केवलिसमुद्घात–सम्बन्धी प्रक्रिया

जब आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिकर्मों का नि शेप रूप से क्षय करके आत्मरमणता के साथ सम्पूर्ण लोकव्यापी पदार्थों को हस्तामलकवत् जानने-देखने का वोध प्राप्त कर लेती है, तव उसे केवलज्ञानी कहते है। लेकिन अभी भी वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र नामक चार अघातिकर्मों के शेष रहने के कारण अपने वर्तमान भव मे रहते हुए मन-वचन-काययोगो सहित होती है, तव सयोगिकेवली कहलाती है और इस अवस्था का वोधक सयोगिकेवलीगुणस्थान है।

सयोगिकेवलियो मे से जिनके आयुकर्म की स्थिति कम और वेदनीय आदि अवशिष्ट तीन अघातिकर्मों की स्थिति अधिक होती है, तव आयुकम की स्थिति से अधिक स्थितिवाले वेदनीय आदि उन तीन कर्मों की स्थिति को आयुकर्म की स्थिति के वरावर करने के लिये आत्मा का जो प्रयत्नविशेप होता है, उसे समुद्घात कहते है। इस समुद्घात का काल आठ समय प्रमाण है। इतने समय मे वह आत्मा वेदनीय आदि तीन अघातिकर्मों की अधिक स्थिति को आयुकर्म की स्थिति के वरावर कर लेती है। जिससे आयुक्षय के साथ-साथ अवशिष्ट वेदनीय आदि तीन कर्मों का भी क्षय हो जाने पर सवदा के लिये निष्कर्म अवस्था को प्राप्त करके सिद्धिस्थान मे रहते हुए आत्मरमणता का अनुभव करती है। ससार के कारणभूत कर्मों का नि शेपरूपेण क्षय हो जाने से पुन ससार मे नही आती है। अर्थात् सिद्ध होने के अनन्तर अनन्तकाल तक आत्मरमण करती रहती है।

परम आत्मरमणता ही जीवमात्र का साध्य है और उसकी सिद्धि हो जाने के वाद अन्य कुछ करना शेप नही रहता है।

समुद्घात में आत्मप्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं और फिर उस शरीरस्थ आत्मा के आकार प्रमाण हो जाते हैं। केवली आत्मा के द्वारा यह समुद्घात रूप प्रयत्नविशेष होने से इसे केवलिसमुद्घात कहते हैं।

केवलिसमुद्घात करने वाले सभी केवली उसके पूर्व आयोजिकाकरण करते हैं। आयोजिकाकरण का अर्थ यह है कि आ-मर्यादा, योजिका-व्यापार, करण-क्रिया अर्थात् केवलि की दृष्टिरूप मर्यादा के द्वारा अत्यन्त प्रशस्त मन-वचन-काया के व्यापार को आयोजिकाकरण कहते हैं। यद्यपि केवलज्ञानसम्पन्न आत्मा के योग का व्यापार प्रशस्त ही होता है, फिर भी यहाँ ऐसी विशिष्ट योगप्रवृत्ति होती है कि उसके अनन्तर समुद्घात अथवा योगों के निरोध की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। आयोजिकाकरण के आवर्जितकरण और आवश्यककरण यह दो अपर नाम हैं। जिनका अर्थ इस प्रकार है—

तथाभव्यरूप परिणाम के द्वारा मोक्षगमन के प्रति सन्मुख हुई आत्मा के अत्यन्त प्रशस्त योग-व्यापार को आवर्जितकरण कहते हैं और जो क्रिया अवश्य करने योग्य होती है वह आवश्यककरण है। अर्थात् अत्यन्त प्रशस्त मन, वचन और काय व्यापार रूप क्रिया अवश्य करने योग्य होती है, इसीलिये वह आवश्यककरण कहलाती है। यद्यपि समुद्घात सभी केवली नहीं करते हैं, कुछ एक करते हैं और कुछ नहीं भी करते हैं, परन्तु यह आवश्यककरण तो सभी केवली करते हैं।

इस प्रकार का आयोजिकाकरण अथवा आवश्यककरण करने के पश्चात् जो केवलज्ञानी आत्मा अपनी आयुस्थिति से वेदनीय आदि कर्म दीर्घस्थिति वाले हों तो उन्हें सम करने के लिये समुद्घात करती है, परन्तु जिस केवली आत्मा की आयुस्थिति के साथ ही पूर्ण समाप्त होने वाले कर्म हों तो वह समुद्घात नहीं करती है।

यह समुद्घात अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर होता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ऐसा कौनसा नियम है कि आयुकर्म से वेदनीय नाम और गोत्र कर्म ही अधिक स्थिति वाले होते हैं ? परन्तु किसी भी समय

मे वेदनीय आदि से आयु अधिक स्थितिवाली नही होती है ? तो इसका उत्तर यह है—

जीवस्वभाव ही यहाँ कारण है। आत्मा का इसी प्रकार का परिणाम है कि जिसके द्वारा वेदनीय आदि कर्म के बराबर अथवा न्यून ही आयुस्थिति होती है, किन्तु किसी भी समय वेदनीय आदि कर्म से अधिक नही होती है, जैसे आयुकर्म के अध्रुवबध मे जीवस्वभाव कारण है। आयुकर्म के सिवाय ज्ञानावरण आदि सातो कर्म तो प्रति समय बधते रहते है, किन्तु आयु तो अपने भुज्यमान भव की आयु के तीसरे भाग, नौवे भाग आदि निश्चित काल मे ही बधती है, परन्तु प्रतिसमय नही बधती है। इस प्रकार के बध की विचित्रता के नियम मे जैसे स्वभाव के सिवाय अन्य कोई हेतु नही है, उसी प्रकार वेदनीय आदि कर्म न्यून अथवा समान आयु होने मे जीवस्वभावविशेष ही कारण है, इसके सिवाय अन्य कोई हेतु नही है।

समुद्घात करने वाली केवली आत्मा पहले समय मे मोटाई मे अपने शरीर-प्रमाण और ऊर्ध्वलोकान्त प्रमाण अपने आत्मप्रदेशो को दड रूप बनाती है। दूसरे समय मे अपने प्रदेशो को पूर्व-पश्चिम अथवा दक्षिण-उत्तर मे कपाट रूप करती है। तीसरे समय मे मथानी रूप करती है और चौथे समय मे अवशिष्ट अन्तरालो को पूर्ण करती है। जिससे सम्पूर्ण चौदह राजू लोकव्यापी आत्मा हो जाती है। इसके बाद सहरण का क्रम प्रारम्भ होता है। जिससे पाचवें समय मे अन्तरालो का, छठे समय मे मथानी का, सातवें समय मे कपाट का सहरण करती है और आठवें समय में दड का सहरण करके शरीरस्थ होती है। इस प्रकार आठ समय प्रमाण केवलिसमुद्घात होता है।

इस आठ समय प्रमाण वाले समुद्घात के पहले दडसमय मे वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण जो स्थिति थी, इसके बुद्धि के द्वारा असख्यात भाग करके उनमे का एक असख्यातवा भाग शेष रख बाकी की असख्यातभाग प्रमाण स्थिति का आत्मप्रदेशो को दड रूप करती आत्मा एक साथ घात करती है और पहले तीन कर्मों के रस के अनन्त भाग कर उनमें से दड समय में असातावेदनीय, प्रथम को छोडकर शेष सस्थानपचक और

सहननपचक, अप्रशस्त वर्णादि चतुष्क, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयशकीर्ति और नीचगोत्र रूप पच्चीस अशुभ प्रकृतियो के अनन्त भागप्रमाण रस का घात करती है और एक अनन्तवा भाग शेप रहता है।

उसी समय सातावेदनीय, देवद्विक, मनुष्यद्विक, पचेन्द्रियजाति, शरीर-पचक, अगोपागत्रय, प्रथम सहनन, प्रथम सस्थान, प्रशस्त वर्णादि चतुष्क, अगुरु-लघु, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, आतप, उद्योत, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर और उच्चगोत्र रूप उनतालीस प्रकृतियो के रस को पापप्रकृतियो के रस मे प्रवेश कराने के द्वारा—सक्रमित करने के द्वारा नाश करती है। यह परिणाम समुद्घात की सामर्थ्य से होता है।

पहले समय जो असख्यातवें भागप्रमाण स्थिति और अनन्तवे भागप्रमाण रस शेष रहा था, उसके वुद्धि द्वारा अनुक्रम से असख्यात और अनन्त भाग करके उसमे से एक-एक भाग शेष रख वाकी की स्थिति के असख्यातवे भाग और रस के अनन्त भागो को दूसरे कपाट के समय एक साथ घात करती है। यहाँ भी प्रथम समय की तरह अप्रशस्त प्रकृतियो के रस मे प्रवेश कराने के द्वारा—सक्रमित कराने के द्वारा प्रशस्त प्रकृतियो के रस का क्षय करती है।

दूसरे समय मे क्षय होने से शेप रहो हुई स्थिति और अवशिष्ट रस के पुन वुद्धि के द्वारा अनुक्रम मे असख्यात और अनन्त भाग करके उसमे से एक एक भाग को शेप रख वाकी की स्थिति के असख्यात भागो और रस के अनन्त भागो को तीसरे मथानी के समय मे एक साथ घात करती है। यहाँ भी पुण्य प्रकृतियो के रस को पाप प्रकृतियो के रस मे सक्रमित करके क्षय करती है।

तीसरे समय मे अवशिष्ट स्थिति के असख्यातवे भाग और रस के अनन्तवें भाग के वुद्धि के द्वारा अनुक्रम मे असख्यात और अनन्त भाग करके उनमे से चौथे समय मे स्थिति के असख्यात भागो का क्षय करती है और एक भाग शेप रखती है। इसी प्रकार रस के अनन्त भागो का क्षय करती है और एक भाग शेप रखती है। पुण्य प्रकृतियो के रस का क्षय भी पूर्व की तरह ही होता है।

इस प्रकार प्रति समय स्थितिघातादि करने पर चौथे समय मे अपने प्रदेशो द्वारा जिसने सम्पूर्ण लोक पूर्ण किया है, ऐसी केवलज्ञानी आत्मा को वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति अपनी आयु से सख्यात गुणी हो जाती है और रस तो अभी भी अनन्तगुण ही है।

अब चौथे समय मे क्षय होने से अवशिष्ट रही स्थिति और अवशिष्ट रहे रस के बुद्धि द्वारा अनुक्रम से सख्यात और अनन्त भाग करके, उनमे का एक-एक भाग शेष रख बाकी की स्थिति के सख्यात भागो को और रस के अनन्त भागो को पाचवे अतरो के सहरण के समय मे क्षय करती है।

इस प्रकार पहले चार समय पर्यन्त प्रति समय जितनी स्थिति और रस होता है उसके अनुक्रम से असख्यात और अनन्त भाग करके एक-एक भाग शेप रख बाकी के असख्यात और अनन्त भागो का घात करती है और चौथे समय मे जो स्थिति और जो रस सत्ता मे होता है, उसके सख्यात और अनन्त भाग करके एक भाग शेप रख बाकी के असख्यात और अनन्त भागो को पाचवें समय मे घात करती है।

यहाँ मे आगे छठे समय से लेकर स्थितिकडक और रसकडक का अन्त-मुहूर्त काल में नाश करती है, यानि कि पाचवे समय मे क्षय होने के बाद जो स्थिति और रस की सत्ता शेप रहती है उसके अनुक्रम मे सख्यात और अनन्त भाग करके प्रत्येक का एक-एक भाग शेप रख बाकी की स्थिति के असख्यात और रस के अनन्त भागो को क्षय करने का प्रयत्न करती है। उसमे से कितना ही भाग छठे समय मे और कितना ही भाग सातवें समय मे इस प्रकार समय-समय मे क्षय करते अन्तर्मुहूर्त काल में समस्त असख्यात और अनन्त भागो का क्षय करती है तथा जो स्थिति और रस शेप रहता है, उसके सख्यात और अनन्त भाग कर एक भाग शेप रख बाकी के सख्यात और अनन्त भागो को अन्तर्मुहूर्त काल मे क्षय करती है।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल में स्थितिघात और रसघात करते-करते वहाँ तक जाती है कि जब सयोगिकेवलीगुणस्थान का चरम समय आता है।

समुद्घात के छठे समय से सयोगिकेवलिगुणस्थान के चरम समय तक के काल मे अन्तर्मुहूर्त काल वाले असख्यात स्थितिघात और रसघात होते है और वेदनीय आदि तीन कर्मो की स्थिति भी आयु के समान हो जाती है। अधिक स्थिति वाले वेदनीय आदि तीन अघातिकर्मो की स्थिति को आयु की स्थिति के बराबर करना ही समुद्घात रूप प्रयत्न का उद्देश्य है। लेकिन जिन सयोगि-केवली आत्माओ की वेदनीय आदि तीन अघातिकर्मो की स्थिति आयु के बराबर है, वे समुद्घात करने का प्रयत्न नही करती है और बिना समुद्घात किये ही जरा-मरण आदि से रहित होकर मोक्षस्थान को प्राप्त कर लेती है।

जब आयु का अन्तिम समय आता है तब ये सयोगिकेवलि आत्माये योग-निमित्तक बध का नाश करने के लिये योगनिरोध की प्रक्रिया की ओर उन्मुख होती है। अतएव प्रासगिक होने से सक्षेप मे योगनिरोध की प्रक्रिया का वर्णन करते है।

योगनिरोध की प्रक्रिया

योगनिरोध करने वाली—वीर्यव्यापार को बन्द करने वाली आत्मा प्रथम बादर काययोग के बल से अन्तर्मुहूर्त मात्र काल मे बादर वचनयोग का निरोध करती है और उसका निरोध करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उसी अवस्था मे रहकर बादर काययोग के अवलम्बन से बादर मनोयोग का अन्त-र्मुहूर्तकाल मे निरोध करती है। वचनयोग और मनोयोग को रोकने हेतु अव-लम्बन के लिये बादर काययोग वीर्यवान आत्मा का करण—उत्कृष्ट साधन माना है। यानि वचन, मन और काया द्वारा वीर्यव्यापार का रोध करने के लिये अवलम्बन की आवश्यकता होती है और उसके लिये काययोग अवलम्बन है। अतएव काय द्वारा होने वाले वीर्यव्यापार मे पहले बादर वचनयोग और तत्पश्चात् बादर मनोयोग का रोध करती है।

बादर मनोयोग का रोध करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उसी स्थिति मे रहकर उच्छ्वासनिश्वास को अन्तर्मुहूर्तकाल मे रोकती है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त उसी स्थिति मे रहकर सूक्ष्म काययोग के द्वारा बादर काययोग का

रोध करती है। क्योकि बादर काययोग रहने तक सूक्ष्म योग रोके नही जा सकते है तथा समस्त बादर योगो का निरोध होने के अनन्तर ही सूक्ष्म योगो का रोध होता है।

बादर काययोग को रोकती हुई आत्मा पूर्वस्पर्धको के नीचे अपूर्वस्पर्धक करती है। अर्थात् पहले जो अधिक वीर्यव्यापार वाले स्पर्धको को करती थी अब यहाँ अत्यन्त हीन वीर्यव्यापार वाले अपूर्वस्पर्धको को करती है। कि्यो पूर्व मे इस प्रकार के अत्यन्त हीन वीर्याणु वाले स्पर्धक किसी काल मे नही किये थे, इसीलिये इस समय किये जाने वाले स्पर्धक अपूर्व कहलाते हैं। उसमे पूर्व-स्पर्धको की जो पहली दूसरी आदि वर्गणायें है, उनमे जो वीर्याविभाग-परिच्छेद-वीर्याणु होते हैं, उनके असख्यात भागो को खीचती है और एक असख्यातवाँ भाग शेप रखती है और जीवप्रदेशो मे का एक सख्यातवा भाग खीचती है और शेष सबको रखती है। यानि इतनी सख्या वाले जीवप्रदेशो मे से पूर्वोक्त वीर्यव्यापार को रोकती है। बादर काययोग का रोध करने पर पहले समय मे इस प्रकार की क्रिया होती है।

तत्पश्चात् दूसरे समय मे पहले समय मे खीचे गये असख्यातभागप्रमाण जीवप्रदेशो मे से असख्यातगुण जीवप्रदेश खीचती है। अर्थात् प्रथम समय मे एक भाग खीचा था, किन्तु दूसरे समय मे असख्यात भाग खीचती है—इतने अधिक जीवप्रदेशो मे से वीर्यव्यापार को रोकती है तथा पहले समय मे जो वीर्याणु खीचे थे उनमे असख्यातगुणहीन यानि असख्यातवें भाग प्रमाण वीर्याणुओ को खीचती है। तात्पर्य यह हुआ कि पहले समय की अपेक्षा असख्यातवें भाग प्रमाण वीर्यव्यापार को रोकती है।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय मे असख्यातगुण, असख्यातगुण आत्मप्रदेशो मे से पहले समय मे रोके गये वीर्य व्यापार की अपेक्षा पीछे-पीछे के समय मे असख्यातगुणहीन-असख्यातगुणहीन वीर्यव्यापार रोकती हुई वहाँ तक जाती है कि जब अपूर्वस्पर्धक करने के अन्तर्मुहूर्त का चरम समय प्राप्त होता है।

इस अन्तर्मुहूर्त काल मे अत्यन्त अल्प वीर्यव्यापार वाले सूचिश्रेणि के वर्ग-

१२

दिगम्बर साहित्य मे गुणस्थानो मे योग-उपयोग निर्देश

गुणस्थानो के चौदह नाम दोनो परम्पराओ मे समान है। दिगम्बर परपरानुसार उनमे प्राप्त योगो का विवेचन इस प्रकार है—

तीन मे तेरह-तेरह, एक मे दस, सात मे नौ, एक मे ग्यारह, एक मे सात योग क्रमश जानना चाहिये। अयोगिकेवलीगुणस्थान मे कोई भी योग नही पाया जाता है। पृथक्-पृथक् गुणस्थानो मे प्राप्त योगो का निरूपण नीचे लिखे अनुसार है—

मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानो मे आहारकद्विक के विना शेष तेरह योग होते हैं।

तीसरे मिश्रगुणस्थान मे औदारिक-वैक्रिय-काययोगद्वय तथा सत्य, असत्य, उभय, अनुभय ये चारो मनोयोग और यही चारो वचनयोग, कुल मिलाकर दस योग होते है।

इन दस योगो मे से वैक्रियकाययोग को छोडकर शेष नौ योग पाचवें देशविरत तथा अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसपराय, उपशातमोह और क्षीणमोह इन सात गुणस्थानो मे होते हैं। जिनके नाम है— औदारिककाययोग, मनोयोगचतुष्टय, वचनयोगचतुष्टय।

छठे प्रमत्तसयतगुणस्थान मे इन योगो के साथ आहारकद्विक को मिलाकर कुल ग्यारह योग पाये जाते हैं।

सयोगिकेवलीगुणस्थान मे सत्य, असत्यामृषा मनोयोगद्वय, सत्य, असत्यामृषा वचनयोगद्वय तथा औदारिकद्विक एव कार्मण ये तीन काययोग इस प्रकार

कुल सात योग होते है। अयोगिकेवलीगुणस्थान मे योग का अभाव होने से कोई भी योग नही होता है।

इस प्रकार से गुणस्थानो मे योगो को जानना चाहिये। अब उपयोग का निर्देश करते है।

गुणस्थानो मे उपयोग —

मिथ्यात्व और सासादन इन दो गुणस्थानो मे मति-अज्ञान आदि अज्ञान-त्रिक और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन ये पाच उपयोग पाये जाते है। अविरत-सम्यग्दृष्टि और देशविरत इन दो गुणस्थानो मे आदि के तीन ज्ञान—मति-श्रुत-अवधि ज्ञान और आदि के तीन दर्शन—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधि-दर्शन ये छह उपयोग होते हैं। तीसरे मिश्रगुणस्थान मे भी यही छह उपयोग है, किन्तु अज्ञान से मिश्रित जानना चाहिये।

छठे प्रमत्तविरत से लेकर बारहवे क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थानो मे आदि के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन एव अवधिदर्शन इस पकार कुल सात उपयोग होते हैं। सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन तेरहवे चौदहवे गुणस्थान मे केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग पाये जाते है।

गुणस्थानो मे पाप्त उपयोगो का कथन उक्त पकार से जानना चाहिये।

□□

१३

दिगम्बर कर्मग्रन्थो मे वर्णित मार्गणास्थानो मे जीवस्थान

मार्गणास्थानो के अवान्तर बासठ भेदो मे प्राप्त चौदह जीवस्थान इस प्रकार बतलाये है—

गतिमार्गणा की अपेक्षा तिर्यंचगति मे एकेन्द्रिय से लेकर सज्ञी पचेन्द्रिय पर्यन्त सभी प्रकार के जीव होने से सभी चौदह जीवस्थान होते हैं तथा शेष देव, मनुष्य और नरक गति मे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त रूप दो-दो जीवस्थान जानना चाहिये ।

इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा एकेन्द्रियो मे बादर पर्याप्त, बादर अपर्याप्त, सूक्ष्म पर्याप्त, सूक्ष्म अपर्याप्त ये चार जीवस्थान होते है । विकलेन्द्रियत्रिक मे द्वीन्द्रिय पर्याप्त, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त, त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, ये छह जीवस्थान होते है और अपनी-अपनी अपेक्षा प्रत्येक मे दो-दो जीवस्थान समझना चाहिये । पचेन्द्रिय मे असज्ञी पर्याप्त, असज्ञी अपर्याप्त, सज्ञी पर्याप्त और सज्ञी अपर्याप्त ये चार जीवस्थान होते हैं ।

कायमार्गणा की अपेक्षा पृथ्वी आदि पाचो स्थावर कायो मे से प्रत्येक मे बादर सूक्ष्म और ये दोनो भी पर्याप्त-अपर्याप्त इस प्रकार चार-चार जीवस्थान जानना चाहिये । त्रस जीवो मे से विकलत्रयो मे प्रत्येक के पर्याप्त-अपर्याप्त ये दो-दो जीवस्थान जानना चाहिये तथा सकलेन्द्रियो (पचेन्द्रियो) मे सज्ञी, असज्ञी और उनके पर्याप्त, अपर्याप्त ऐसे दो-दो मिलकर कुल चार जीवस्थान पाये जाते है ।

योगमार्गणा मे असत्यामृषावचनयोग को छोडकर शेष तीन व... और चारो मनोयोगो मे एक सज्ञी पर्याप्तक ...ान जान...

असत्यामृषावचनयोग मे पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय—ये पाच जीवस्थान होते है। औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग मे सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि सज्ञी पचेन्द्रिय पर्यन्त सातो अपर्याप्तक तथा सज्ञी पर्याप्तक ये आठ जीवस्थान होते है तथा औदारिककाययोग मे सातो पर्याप्तक जीवस्थान जानना चाहिये। वैक्रियकाययोग, आहारकद्विककाययोग मे एक सज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान तथा वैक्रियमिश्रकाययोग मे एक सज्ञी अपर्याप्तक जीवस्थान होता है।

वेदमार्गणा की अपेक्षा स्त्रीवेद और पुरुषवेद मे सज्ञी-असज्ञी पर्याप्तक-अपर्याप्तक ये चार जीवस्थान होते हे तथा नपु सकवेद और कषायमार्गणा की अपेक्षा क्रोधादि चारो कषायो मे सभी चौदह जीवस्थान जानना चाहिये।

ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान मे चौदह जीवस्थान होते है तथा मति, श्रुत और अवधि ज्ञान मे सज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो जीवस्थान पाये जाते हे तथा विभगज्ञान, मनपर्याय और केवलज्ञान मे एक सज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान होता है।

केवलज्ञान मे विशेषापेक्षा सज्ञी पर्याप्त और सज्ञी अपर्याप्त ये दो जीवस्थान भी माने जा सकते है और यह अपर्याप्तता सयोगिकेवलियो क समुद्घात अवस्था मे पाई जाती है। इसी दृष्टि से दो जीवस्थान समझना चाहिये। अन्यथा सामान्य से एक सज्ञी पर्याप्त जीवस्थान होता है।

सयममार्गणा की अपेक्षा सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-सम्पराय, यथाख्यात और देशविरत इन छहो मे एक सज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान जानना चाहिये। असयम मे सभी चौदह जीवस्थान पाये जाते है।

दर्शनमार्गणा की अपेक्षा चक्षुदर्शन मे पर्याप्त-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय असज्ञी, सज्ञी ये छह और अचक्षुदर्शन मे सभी चौदह जीवस्थान पाये जाते है। अवधिदर्शन मे सज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो जीवस्थान होते है। केवलदर्शन मे एक सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थान होता है। यदि सयोगि-केवली की समुद्घात अवस्था की अपेक्षा विचार किया जाये तो सज्ञी अपर्याप्त जीवस्थान भी सम्भव होने से केवलदर्शन मे दो जीवस्थान माने जाते है।

लेश्यामार्गणा की अपेक्षा कृष्णादि तीनों अशुभ लेश्याओ मे चौदह तथा तेज, पद्म और शुक्ल इन शुभ लेश्यात्रिक मे सज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो जीवस्थान पाये जाते हैं।

भव्यमार्गणा की अपेक्षा भव्य और अभव्य के सभी चौदह जीवस्थान होते है।

सम्यक्त्वमार्गणा की अपेक्षा औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीनो सम्यग्दर्शनो मे सज्ञी पर्याप्तक-अपर्याप्तक ये दो-दो जीवस्थान होते हैं। विशेषता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व मे मरण नही होने से एक सज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान होगा। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व मे मनुष्य की अपेक्षा सज्ञी पर्याप्त और देवो की अपेक्षा सज्ञी अपर्याप्त—इस प्रकार दो जीवस्थान होते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे सज्ञी अपर्याप्त जीवस्थान मानने का कारण यह है भवनत्रिक को छोडकर देवो के, प्रथम पृथ्वी के नारको के तथा भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंचो के अपर्याप्त अवस्था मे भी वह सम्भव है। बद्धायुष्क प्रथम पृथ्वी के नारको, भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंचो और वैमानिक देवो को अपर्याप्त अवस्था मे भी क्षायिकसम्यक्त्व सम्भव होने से क्षायिकसम्यक्त्व मे सज्ञी पर्याप्त, अपर्याप्त ये दो जीवस्थान माने जाते है।

सासादनसम्यक्त्व मे विग्रहगति की अपेक्षा सातो अपर्याप्तक और सज्ञी पर्याप्तक ये आठ जीवस्थान होते है। मिश्रसम्यक्त्व मे एक सज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान तथा मिथ्यात्व मे सभी जीवस्थान जानना चाहिए।

सज्ञीमार्गणा की अपेक्षा सज्ञी पचेन्द्रियो मे सज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो जीवस्थान पाये जाते हैं तथा असज्ञी पचेन्द्रियो मे सज्ञी पचेन्द्रिय सम्बन्धी दो जीवस्थानो को छोडकर शेष जीवस्थान होते है।

आहारमार्गणा की अपेक्षा आहारक जीवो मे सभी चौदह जीवस्थान और अनाहारक जीवो मे सातो अपर्याप्तक और एक सज्ञी पर्याप्तक कुल मिलाकर आठ जीवस्थान होते हैं।

इस प्रकार मार्गणास्थानो मे जीवस्थानो की प्राप्ति का कथन समझना चाहिये।

कपाय तक के बारह गुणस्थान पाये जाते हैं। वैक्रियकाययोग मे मिथ्यात्व आदि चार गुणस्थान होते है तथा वैक्रियमिश्रकाय मे मिश्रगुणस्थान को छोड-कर आदि के तीन गुणस्थान पाये जाते हैं। उनके नाम हैं—मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि। आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग मे एक छठा प्रमत्तसयत गुणस्थान होता है। औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मण-काययोग मे मिथ्यात्व, सासादन, असयतसम्यग्दृष्टि और सयोगिकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं।

वेदमार्गणा की अपेक्षा तीनो वेदो मे तथा कपायमार्गणा की अपेक्षा क्रोध, मान और माया इन तीन कपायो मे मिथ्यात्व आदि अनिवृत्तिवादर पर्यन्त नौ गुणस्थान तथा लोभकपाय मे आदि के मिथ्यात्व मे लेकर सूक्ष्मसम्पराय पर्यन्त दस गुणस्थान पाये जाते हैं।

ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा अज्ञानत्रिक अर्थात् मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभगज्ञान वाले जीवो के आदि के दो गुणस्थान होते हैं। ज्ञानत्रिक—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान वाले जीवो मे असयतसम्यग्दृष्टि से लेकर नौ गुण-स्थान अर्थात् चौथे से बारहवें तक के नौ गुणस्थान होते हैं। मनपर्यायज्ञान वाले जीवो के छठे प्रमत्तसयत को आदि लेकर बारहवें क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थान होते है। केवलज्ञान और केवलदर्शन मार्गणा वाले जीवो के अन्तिम दो सयोगि-केवली, अयोगिकेवली गुणस्थान होते ह।

सयममार्गणा की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना सयम वाले जीवो के प्रमत्तसयत आदि चार गुणस्थान होते है। यथाख्यातसयम वाले जीवो के उपशातमोह आदि चार गुणस्थान होते है तथा सूक्ष्मसम्परायसयम वाले जीवो के एक सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवा और देशसयम वालो के देशविरत नामक पाचवा गुणस्थान होता है। असयत जीवो के मिथ्यात्व आदि चार गुणस्थान होते हैं तथा परिहारविशुद्धिसयम वाले के प्रमत्तसयत आदि दो गुणस्थान होते हैं।

दर्शनमार्गणा की अपेक्षा चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन वाले जीवो के मिथ्यात्व आदि क्षीणमोह पर्यन्त बारह गुणस्थान होते है तथा अवधिदर्शन वाले जीवो के

असयतसम्यग्दृष्टि को आदि लेकर क्षीणमोह पर्यन्त नौ गुणस्थान पाये जाते है। केवलदर्शनमार्गणा के लिये पूर्व मे सकेत किया जा चुका है।

लेश्यामार्गणा की अपेक्षा कृष्णादि तीन लेश्या वाले जीवो के मिथ्यात्व आदि चार गुणस्थान, शुक्ललेश्या वालो के मिथ्यात्व आदि तेरह गुणस्थान तथा तेज और पद्मलेश्या वालो के मिथ्यात्व से अप्रमत्तसयत पर्यन्त सात गुणस्थान होते है।

भव्यमार्गणा की अपेक्षा भव्य जीवो के मिथ्यात्व से लेकर क्षीणमोह पर्यन्त बारह गुणस्थान होते है। क्योकि सयोगिकेवली और अयोगिकेवली को भव्य-व्यपदेश नही होता है इसीलिये भव्य जीवो के आदि के बारह गुणस्थान माने जाते है। अभव्य जीवो के तो एकमात्र मिथ्यात्वगुणस्थान होता है।

सम्यक्त्वमार्गणा की अपेक्षा उपशम सम्यक्त्वी जीवो के चौथे अविरत सम्यक्त्व से लेकर उपशातमोह पर्यन्त आठ गुणस्थान तथा क्षायिक सम्यक्त्व वाले जीवो के अविरतसम्यक्त्व से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त ग्यारह गुणस्थान और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीवो के अविरतसम्यक्त्व आदि चार गुणस्थान होते हैं। मिथ्यात्वादित्रिक मे उस-उस नाम वाला एक-एक ही गुणस्थान होता है। अर्थात् मिथ्यादृष्टियो मे पहला मिथ्यात्वगुणस्थान, सासादनसम्यग्दृष्टियो मे सासादन नामक दूसरा गुणस्थान और सम्यग्मिथ्यादृष्टियो मे सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरा गुणस्थान होता है।

सज्ञीमार्गणा की अपेक्षा सज्ञी जीवो के मिथ्यात्वादि क्षीणकषायान्त बारह गुणस्थान तथा असज्ञी जीवो मे मिथ्यात्वादि दो गुणस्थान होते है।

आहारमार्गणा की अपेक्षा आहारक जीवो के मिथ्यात्वादि सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान तथा अनाहारक जीवो के मिथ्यात्व, सासादन, अविरत-सम्यग्दृष्टि और सयोगिकेवली, अयोगिकेवली ये पाच गुणस्थान जानना चाहिये।

इस प्रकार मार्गणाओ मे गुणस्थानो का विधान है।

卐

चतुर्दश गुणस्थानो मे योगो का प्रारूप

गुणस्थान	सत्य मनोयोग	असत्य मनोयोग	सत्यासत्य मनोयोग	असत्यामृषा मनोयोग	सत्य वचनयोग	असत्य वचनयोग	सत्यासत्य वचनयोग	असत्यामृषा वचनयोग	वैक्रियमिश्र काययोग	वैक्रिय काययोग	आहारकमिश्र काययोग	आहारक काययोग	औदारिकमिश्र काययोग	औदारिक काययोग	कार्मण काययोग	कुल योग
मिथ्यादृष्टि	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१	१	१	१३
सासादन	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१	१	१	१३
सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र)	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१	०	०	०	१	०	१०
अविरत सम्यग्दृष्टि	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१	१	१	१३
देशविरति	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१	०	०	०	१	०	११
प्रमत्तसयत	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१	०	१३
अप्रमत्तसयत	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१	०	१	०	१	०	११
अपूर्वकरण	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	१	०	९
अनिवृत्तिबादर सपराय	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	१	०	९
सूक्ष्म सम्पराय	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	१	०	९
उपशातमोह	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	१	०	९
क्षीणमोह	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	१	०	९
सयोगिकेवली	१	०	०	१	१	०	०	१	०	०	०	०	१	१	१	७
अयोगिकेवली	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
कुल गुणस्थान	१३	१२	१२	१३	१३	१२	१२	१३	५	७	१	२	३	१०	४	

चतुर्दश गुणस्थानों में उपयोगों का प्रारूप

गुणस्थान	मतिअज्ञान	श्रुतअज्ञान	विभंगज्ञान	मतिज्ञान	श्रुतज्ञान	अवधिज्ञान	मनपर्यायज्ञान	केवलज्ञान	चक्षुदर्शन	अचक्षुदर्शन	अवधिदर्शन	केवलदर्शन	कुल उपयोग
मिथ्यादृष्टि	१	१	१	०	०	०	०	०	१	१	०	०	५
सासादन	१	१	१	०	०	०	०	०	१	१	०	०	५
मिश्र	१	१	१	१	१	१	०	०	१	१	१	०	९
अविरत सम्यग्दृष्टि	०	०	०	१	१	१	०	०	१	१	१	०	६
देशविरत	०	०	०	१	१	१	०	०	१	१	१	०	६
प्रमत्तसंयत	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
अप्रमत्तसंयत	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
अपूर्वकरण	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
अनिवृत्ति बादरसम्पराय	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
सूक्ष्मसम्पराय	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
उपशांतमोह	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
क्षीणमोह	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०	७
सयोगिकेवली	०	०	०	०	०	०	०	१	०	०	०	१	२
अयोगिकेवली	०	०	०	०	०	०	०	१	०	०	०	१	२
कुल गुणस्थान	३	३	३	१०	१०	१०	७	२	१२	१२	१०	२	

मार्गणाओ मे जीवस्थानो का प्रारूप

मार्गणा	एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त	एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त	एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त	एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	त्रीन्द्रिय पर्याप्त	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त	असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त	सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त	सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त	कुल जीवस्थान
नरकगति	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
तिर्यंचगति	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
मनुष्यगति	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
												१			३
देवगति	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
एकेन्द्रिय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
द्वीन्द्रिय	०	०	०	०	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	२
त्रीन्द्रिय	०	०	०	०	०	०	१	१	०	०	०	०	०	०	२
चतुरिन्द्रिय	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	०	०	०	०	२
पचेन्द्रिय	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	४
पृथ्वीकाय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
अप्काय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
तेजस्काय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
वायुकाय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
वनस्पतिकाय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
मनोयोग	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
													१	१	१
वचनयोग	०	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	८
					०	१	०	१	०	१	०	१	०	१	५
					१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१०
काययोग	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
स्त्रीवेद	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	४
पुरुषवेद	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	४

विशेष

सामान्य से मनोयोग वाले जीवो के वचन व काययोग और वचनयोग वालो के काययोग होता है। जिससे काययोग मे चौदह, वचनयोग मे एकेन्द्रिय के चार भेद बिना शेष दस और मनोयोग मे सज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त ये दो जीव-भेद होते है। परन्तु यहा मनोयोग वालो के वचनयोग और काययोग की तथा वचनयोग वालो के काययोग की गौणता मानकर मनोयोग मे दो, वचनयोग मे आठ और काययोग मे चार जीवस्थान का सकेत किया है।

लेकिन छठी गाथा मे लब्धि-अपर्याप्त की विवक्षा होने से और उनके क्रिया का समाप्ति काल न होने से उसकी गौणता मान लब्धि-अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि चार भेद मे वचनयोग और सज्ञी-अपर्याप्त मे मनोयोग की विवक्षा नही की है, जबकि यहाँ लब्धि-पर्याप्त की विवक्षा होने से करण-अपर्याप्त अवस्था मे उन लब्धि-पर्याप्त जीवो के करण-पर्याप्त जीवो की तरह क्रिया का प्रारम्भ काल और समाप्ति काल एक मान अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि चार मे भी वचनयोग और सज्ञी-अपर्याप्त मे मनोयोग कहा है तथा मनोयोग की प्रधानता वाले जीवो के वचन व काययोग की और वचनयोग की प्रधानता वालो के काययोग की गौणता मानकर छठी गाथा के अनुसार लब्धि-अपर्याप्त की विवक्षा करें और वहाँ बताये गये अनुसार योग घटित करें तो मात्र संज्ञी पर्याप्त रूप एक जीवभेद मे मनोयोग, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय और पर्याप्त विकलेन्द्रिय इन चार मे वचनयोग और शेष नौ जीवभेदो मे काययोग होता है।

मार्गणा	एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त	एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त	एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त	एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	त्रीन्द्रिय पर्याप्त	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	कुल जीवस्थान
अवधिदर्शन	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
केवलदर्शन	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१
कृष्णलेश्या	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
नीललेश्या	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
कापोतलेश्या	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
तेजोलेश्या	०	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	३
पद्मलेश्या	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	[illegible]
शुक्ललेश्या	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
भव्य	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
अभव्य	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
क्षायिक	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
क्षायोपशमिक	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
औपशमिक	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
मिश्र	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	२
सासादन	०	०	१	०	१	०	१	०	१	०	१	०	१	१	७
मिथ्यात्व	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
संज्ञी	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
असंज्ञी	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१२
आहारी	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
अनाहारी	१	०	१	०	१	०	१	०	१	०	१	०	१	१	८

विशेष

सामान्य से मनोयोग वाले जीवो के वचन व काययोग और वचनयोग वालो के काययोग होता है । जिससे काययोग मे चौदह, वचनयोग मे एकेन्द्रिय के चार भेद बिना शेष दस और मनोयोग मे सज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त ये दो जीव-भेद होते है । परन्तु यहा मनोयोग वालो के वचनयोग और काययोग की तथा वचनयोग वालो के काययोग की गौणता मानकर मनोयोग मे दो, वचनयोग मे आठ और काययोग मे चार जीवस्थान का सकेत किया है ।

लेकिन छठी गाथा मे लब्धि-अपर्याप्त की विवक्षा होने से और उनके क्रिया का समाप्ति काल न होने से उसकी गौणता मान लब्धि-अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि चार भेद मे वचनयोग और सज्ञी-अपर्याप्त मे मनोयोग की विवक्षा नही की है, जबकि यहाँ लब्धि-पर्याप्त की विवक्षा होने से करण-अपर्याप्त अवस्था मे उन लब्धि-पर्याप्त जीवो के करण-पर्याप्त जीवो की तरह क्रिया का प्रारम्भ काल और समाप्ति काल एक मान अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि चार मे भी वचनयोग और सज्ञी-अपर्याप्त मे मनोयोग कहा है तथा मनोयोग की प्रधानता वाले जीवो के वचन व काययोग की और वचनयोग की प्रधानता वालो के काययोग की गौणता मानकर छठी गाथा के अनुसार लब्धि-अपर्याप्त की विवक्षा करें और वहाँ बताये गये अनुसार योग घटित करे तो मात्र सज्ञी पर्याप्त रूप एक जीवभेद मे मनोयोग, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय और पर्याप्त विकलेन्द्रिय इन चार मे वचनयोग और शेष नौ जीवभेदो मे काययोग होता है ।

मार्गणाओ मे गुणस्थानो का प्रारूप

मार्गणा	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	सास्वादन	सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र)	अविरत सम्यग्दृष्टि	देशविरति	प्रमत्तसंयत	अप्रमत्तसंयत	अपूर्वकरण	अनिवृत्तिबादरसंपराय	सूक्ष्मसंपराय	उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ	क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ	सयोगिकेवली	अयोगिकेवली	कुल गुणस्थान
नरकगति	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
तिर्यंचगति	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	५
मनुष्यगति	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
देवगति	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
एकेन्द्रिय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
द्वीन्द्रिय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
त्रीन्द्रिय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
चतुरिन्द्रिय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
पचेन्द्रिय	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
पृथ्वीकाय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
अप्काय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
तेजस्काय	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
वायुकाय	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
वनस्पतिकाय	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
त्रसकाय	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
मनोयोग	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
वचनयोग	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
काययोग	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
स्त्रीवेद	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	९
पुरुषवेद	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	९
नपुंसकवेद	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	९
क्रोध	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	९
मान	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	९

मार्गणा	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	सास्वादन	सम्यग्मिथ्यादृष्टि	अविरत-सम्यग्दृष्टि	देशविरत	प्रमत्तसंयत	अप्रमत्तसंयत	अपूर्वकरण	अनिवृत्तिबादरसंपराय	सूक्ष्मसंपराय	उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ	क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ	सयोगिकेवली	अयोगिकेवली	कुल गुणस्थान
माया	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	१०
लोभ	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	११
मतिअज्ञान	१	१	० / १	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२ / ३
श्रुतअज्ञान	१	१	० / १	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२ / ३
विभंगज्ञान	१	१	० / १	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२ / ३
मतिज्ञान	०	०	१ / ०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१० / ९
श्रुतज्ञान	०	०	१ / ०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१० / ९
अवधिज्ञान	०	०	१ / ०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१० / ९
मनःपर्यवज्ञान	०	०	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	०	०	७
केवलज्ञान	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
सामा चारित्र	०	०	०	०	०	१	१	१	१	०	०	०	०	०	४
छेदोपस्थापनीय	०	०	०	०	०	१	१	१	१	०	०	०	०	०	४
परिहारविशुद्धि	०	०	०	०	०	१	१	०	०	०	०	०	०	०	२
सूक्ष्म सम्पराय	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	०	०	०	०	१
यथाख्यात	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	४
देशविरति	०	०	०	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
अविरति	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
चक्षुदर्शन	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१२

मार्गणा	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	सास्वादन	सम्यग्मिथ्यादृष्टि	अविरति सम्यग्दृष्टि	देशविरति	प्रमत्तसंयत	अप्रमत्तसंयत	अपूर्वकरण	अनिवृत्तिबादर संपराय	सूक्ष्म संपराय	उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ	क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ	सयोगिकेवली	अयोगिकेवली	कुल गुणस्थान
अचक्षुदर्शन	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१२
अवधिदर्शन	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	९
	१	१	१												१२
केवलदर्शन	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
कृष्णलेश्या	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
					१	१									६
नीललेश्या	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
					१	१									६
कापोतलेश्या	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
					१	१									६
तेजोलेश्या	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	७
पद्मलेश्या	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	७
शुक्ललेश्या	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
भव्य	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१४
अभव्य	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
क्षायिक	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	११
क्षायोपशमिक	०	०	०	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	४
औपशमिक	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	८
मिश्र	०	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
सासादन	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
मिथ्यात्व	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
संज्ञी	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१२
असंज्ञी	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
आहारी	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
अनाहारी	१	१	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	५

योगोपयोग-मार्गणा अधिकार की गाथा–अकाराद्यनुक्रमणिका

विवेचन में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अनुयोग द्वार हरिभद्रीया टीका
आचाराग सूत्र टीका
आप्तपरीक्षा
आवश्यक निर्युक्ति
कर्मप्रकृति (कम्मपयडी)
कर्मस्तव-गोविन्दाणि वृत्ति
कपायपाहुड
गोम्मटसार-जीवकाण्ड
तत्त्वार्थसूत्र
तत्त्वार्थराजवार्तिक
तत्त्वार्थभाष्य
द्रव्यसग्रह
नन्दी सूत्र टीका
नियमसार
पचसग्रह-स्वोपज्ञवृत्ति
पचसग्रह-मलयगिरि टीका
पचसग्रह (दिगम्बर)
पचसग्रह प्राकृत वृत्ति
पचाध्यायी
प्रमेयकमल मार्तण्ड
प्रवचनसार
प्रवचनसारोद्धार
प्रज्ञापना सूत्र
प्रज्ञापना चूर्णि
प्रशमरति प्रकरण
बृहत्सग्रहणी
भगवती सूत्र
लोकप्रकाश
पट्खडागम धवला टीका
समवायाग सूत्र
सर्वार्थसिद्धि